www.vatayaneurope.com

अप्रैल-जून 2025

प्रवेशांक

वातायनम्

वातायन-यूरोप की त्रैमासिक पत्रिका

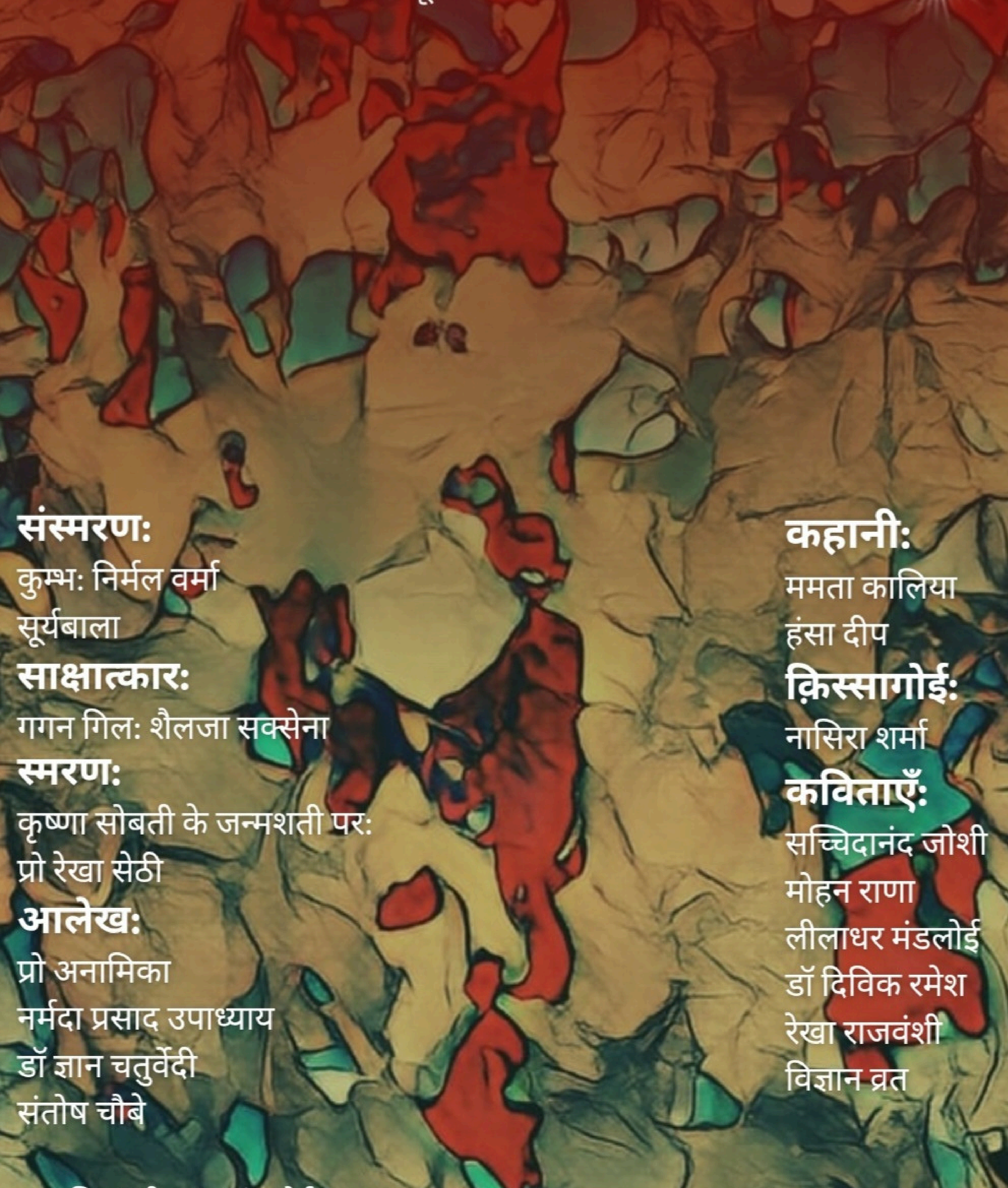

संस्मरण:

कुम्भ: निर्मल वर्मा

सूर्यबाला

साक्षात्कार:

गगन गिल: शैलजा सक्सेना

स्मरण:

कृष्णा सोबती के जन्मशती पर:

प्रो रेखा सेठी

आलेख:

प्रो अनामिका

नर्मदा प्रसाद उपाध्याय

डॉ ज्ञान चतुर्वेदी

संतोष चौबे

कहानी:

ममता कालिया

हंसा दीप

क़िस्सागोई:

नासिरा शर्मा

कविताएँ:

सच्चिदानंद जोशी

मोहन राणा

लीलाधर मंडलोई

डॉ दिविक रमेश

रेखा राजवंशी

विज्ञान व्रत

चित्र: लीलाधर मंडलोई

संरक्षक
डॉ पद्मेश गुप्त

प्रमुख संपादक
दिव्या माथुर

प्रबंध संपादक
अर्पणा संत सिंह

संपादन सहयोग
प्रो रेखा सेठी (पद्य)
डॉ वंदना मुकेश (गद्य)
अजेय जुगरान (आंचलिक साहित्य/अंग्रेज़ी)
ऋचा जैन (विश्व साहित्य)
प्रो राजेश कुमार (भाषा)

क्रिएटिव मार्केटिंग मैनेजर
अंतरीपा ठाकुर मुखर्जी

वेब/तकनीकी विशेषज्ञ
शिवि श्रीवास्तव
कोषाध्यक्ष
एडवर्ड क्रास्क

सलाहकार
मीरा मिश्रा कौशिक, ओ.बी.ई.
डॉ निखिल कौशिक
तितिक्षा दंड शाह

भारत में प्रतिनिधि
प्रो मधु चतुर्वेदी

वेबसाइट : https://www.vatayaneurope.com
यू-ट्यूब : https://www.youtube.com/@vatayanuk
ई-मेल : vatayaneurope@gmail.com

वातायनम् में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के अपने है,
उससे वातायनम् टीम का सहमत होना अनिवार्य नही है।

डॉ. कमल किशोर गोयनका

(1938 - 2025)

डॉ. कमल किशोर गोयनका जी को वातायनम् का यह प्रवेशांक सादर समर्पित है।
अर्धशती से निरंतर कार्यरत प्रेमचंद और प्रवासी हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ
व्यास सम्मान से सम्मानित प्रख्यात साहित्यकार
डॉ. कमल किशोर गोयनका जी को वातायनम् के सम्पादक मंडल की ओर से हार्दिक श्रद्धांजलि।

अनुक्रम

संपादकीय 5

संस्मरण:
सुलगती टहनी: निर्मल वर्मा 6
डि'प सा'ब की तीसरी बेटी: सूर्यबाला 8

कविताएँ:
सच्चिदानंद जोशी 13
कपिल कुमार 13
लीलाधर मंडलोई 14
मोहन राणा 15
विज्ञान व्रत 16
रेखा राजवंशी 16

लघुकथाएँ:
कमीला और कमली: प्रगती टिपणीस 17
प्रशिक्षण: डॉ आरती 'लोकेश' 18

कहानियाँ:
सब बहादुर नहीं होते: ममता कालिया 19
उल्कापिंड: हंसा दीप 24
अमृतवाणी: आस्था देव 28

क़िस्सागोई:
एशिया महाद्वीप में
क़िस्सागोई: नासिरा शर्मा 32

साक्षात्कारों में:
साक्षात्कारों के मध्य गगन
गिल: डॉ शैलजा सक्सेना 35

स्मरण: (जन्मशती पर विशेष)
कृष्णा सोबती:भाषा का
जनतंत्र: प्रो रेखा सेठी 38

ललित निबंध:
प्रभास की सीपियाँ: नर्मदा प्रसाद
उपाध्याय 43

आलेख:
बृहत्तर समाज का महास्वप्न.: प्रो अनामिका 47
कविता और संगीत: संतोष चौबे 51
रोशनी के दस्तावेज़: डॉ ज्ञान चतुर्वेदी 53
AI जनित मशीनी लेखन: अभिषेक त्रिपाठी 56
प्रवासी महिला कथा लेखन: डॉ दीक्षा गुप्ता 59

स्थायी स्तम्भ:
छन्द-सलिला:दोहा: प्रो मधु चतुर्वेदी 61

नटखट नगरी:
अपनी कहें हमारी सुन लें: डॉ दिविक रमेश 62
बिल्ली और गीदड़: शिखा वार्ष्णेय 63

पुस्तक समीक्षा:
ऐ प्लेस कॉल्ड होम: डॉ विजय शर्मा 64

फ़िल्म समीक्षा:
हिंदी-विंदी: प्रो. सुभाष शर्मा 66

विश्व साहित्य:
एक बिना शीर्षक की कहानी: अंतोन चेख़व
अनुवादक: ऋचा जैन 67

स्वास्थ्य:
आपके पांव बड़े खूबसूरत है: डॉ निखिल कौशिक 71

आंचलिक साहित्य:
कनै बचौला हम: सुषमा ध्यानी 73
जलमग्न टिहरी कु एकालाप: अंजू ढौंडियाल 74
हमारी बोली हमारी शान: हेमचन्द्र सकलानी 75

English section

Like Being Alive Twice by Dharini 77
Bhaskar: Mallika Ramachandran 78
Travel and Food: Kebabs of
Delhi:Shelley Williams 79

संपादकीय

हमारे लिए यह बहुत गर्व और संतोष की बात है कि हम वातायन-यूरोप की पत्रिका, वातायनम् का प्रवेशांक प्रस्तुत करने में सक्षम रहे हैं। इस पर पिछले कुछ वर्षों से विचार-मंथन जारी था किंतु पिछले दिनों दिल्ली में वातायन के दो उत्साही सदस्यों - अर्पणा संत सिंह और अजय जुगरान - से मुलाक़ात के दौरान इस काम को करने की ज़ोरदार सिफ़ारिश की। आत्म-प्रचार के इस आधुनिक युग में प्रतिबद्ध लोगों को ढूँढ़ना आसान नहीं है। लंदन लौटने पर वातायन की समर्पित टीम ने भी इस सुझाव का ज़ोरदार समर्थन किया। इससे मुझे अकथनीय ऊर्जा मिली और लगा कि जो संस्था सदा वैश्विक संस्थाओं को मशाल दिखाते हुए अग्रसर रही हो; अब स्वयं उसके नवीनीकरण का समय आ गया है।

बाईस वर्ष पूर्व वातायन-यूके की स्थापना के पीछे भी मेरा यही उद्देश्य था - भारतीय संस्कृति, हिंदी और आँचलिक भाषाओं और साहित्य को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सम्मानित एवं प्रभावशाली रूप से स्थापित कर, इसे भावी पीढ़ी में स्थानांतरण किया जाना - वातायनम् उसी शृंखला की अगली कड़ी है। यह लिखित दस्तावेज़ के रूप में हमारे नवोदित साहित्यकारों का वैश्विक स्तर पर मार्ग प्रशस्त करेगी।

वातायन के संरक्षक, डॉ पद्मेश गुप्त द्वारा संपादित और प्रकाशित पत्रिकाएं 'पुरवाई' और 'प्रवासी-टुडे' अपने समय में खूब लोकप्रिय हुईं। इन दोनों के अतिरिक्त कई अन्य पत्र-पत्रिकाओं के संपादन मंडल की सदस्य के रूप में मेरा भी रचनात्मक सहयोग रहा है तो अनुभव और उत्साह की कमी नहीं है किंतु प्रश्न यह उठता है कि आज जब विश्व भर में अनेक हिंदी पत्रिकाएं प्रकाशित की जा रही हैं, तो 'वातायनम्' के माध्यम से हम क्या अलग और नया करेंगे।

हमारी जैसी अनेक संस्थाओं द्वारा विदेशों में दशकों से हिंदी के प्रचार और प्रसार का सकारात्मक परिणाम आज हमारे सामने है। अब हमें अपना ध्यान साहित्य की गुणवत्ता पर केन्द्रित करना होगा। अनेक लेखक बहुत बढ़िया लिख रहे हैं और चाक पर चढ़ी माटी की तरह कुछ को कुम्हार की थपकियाँ चाहिए, न कि नवोदित लेखक होने के नाते मिथ्या प्रशंसा। इसके लिए हमें मास्टर्स की शरण लेनी होगी - सर्वश्रेष्ठ साहित्यकारों को प्रस्तुत करना, उनसे बात करना, वरिष्ठ लेखकों और प्राध्यापकों से अच्छे लेखन की तकनीक सीखना होगा। नवोदित लेखकों को हम मुख्यधारा के बराबर न सही, अच्छा लिखने की प्रेरणा तो दे ही सकते हैं। हम सर्वश्रेष्ठ लेखन के साथ पहचाने जाने के लिए लिखना चाहते हैं, यही है इस पत्रिका का उद्देश्य और लक्ष्य।

वातायनम् का संपादक मंडल सर्वोत्तम विश्व साहित्य का चयन करने और प्रकाशित करने के लिए प्रतिबद्ध है। हम उन वरिष्ठ लेखकों के हृदय से आभारी हैं, जो वातायन संस्था के प्रशंसक रहे हैं और जो आज भी हमारी सहायता के लिए कटिबद्ध हैं। हमारा सौभाग्य है कि वातायनम् के पहले ही अंक में साहित्य अकादमी और ज्ञानपीठ से पुरस्कृत और वरिष्ठ लेखक सम्मिलित हैं। इस पत्रिका में साहित्य की अनेक विधाओं को शामिल करने के अतिरिक्त आँचलिक और अन्य विश्व भाषाओं के साहित्य को भी स्थान दिया गया है। वातायन संगोष्ठियों को बहाल करने का प्रयत्न भी जारी है, ताकि प्रवासी नवोदित रचनाकार कार्यशालाओं के माध्यम से अपने शिल्प में सुधार ला सकें।

पाठकों और साहित्यकारों से रचनात्मक सुझावों की अपेक्षा में,
शुभकामनाओं सहित,

दिव्या माथुर

सुलगती टहनी

(महाकुम्भ के सुअवसर पर पढ़िए निर्मल वर्मा का संस्मरण)

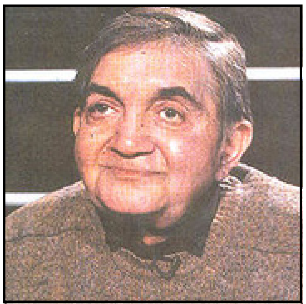

निर्मल वर्मा
साहित्य अकादमी और ज्ञानपीठ पुरस्कारों से सम्मानित वरिष्ठ सहित्यकार

प्रयाग : 1976

मुँह अँधेरे सीटी सुनाई देती है - घनी नींद में सूराख़ बनाती हुई— एक क्षण पता नहीं चलता, मैं कहाँ हूँ, किस जगह हूँ, कौन-सा समय है! आँखें खुलती हैं, तो ढेर सा अँधेरा गटागट पीने लगती हैं, जैसे मुँह की प्यास आँखें बुझा रही हैं। याद आता है, मेरे नीचे मेरा स्लीपिंग बैग है— मेरी यात्राओं और यातनाओं को ढोता हुआ। मैं जाग गया हूँ, लेकिन मेरी समूची देह गरमाई के घेरे में सो रही है।

कुछ देर बाद आँखें अँधेरे में टोहती हुई एक-एक चीज़ पर ठहर जाती हैं- किताब, तिपाई, लालटेन, फूस का अधखुला दरवाज़ा, हवा में सरसराती छत। बाहर एक फुसफुसाता हुआ शोर है, रेंगती हुई आवाज़ों का रेला- जैसे हज़ारों पैर रेत को थपथपाते हुए चल रहे हैं। मैं हड़बड़ाकर अपना स्लीपिंग बैग समेटता हूँ। हाथों में रेत, मिट्टी, फूस के पत्तों को ठेलता हुआ दरवाज़ा खोलता हूँ, तो ठिठका - सा रह जाता हूँ।

चाँद दिखाई देता है। पूर्णिमा का पूरा चाँद, इलाहाबाद के क़िले पर ऊँघता हुआ। पिछली रात उसे गंगा के भीतर देखा था - एक सफ़ेद भुतैली परछाईं, एक झिलमिला-सा स्वप्न। अब समूची रात की यात्रा में थका हुआ वह क़िले के माथे पर चिपका था—एक गोल, सफ़ेद, मुरझाई बिन्दी, जिसे सिर्फ़ एक अँगुली से पोंछा जा सकता था।
आप जाग गए ?"

सच्चे महाराज का चौकीदार मुझे देखकर कुछ हैरान-सा हो जाता है। दरअसल जब से मैं आया हूँ, वह मुझ पर हैरान है। वह उन्नीस-बीस वर्ष का युवक, जो शायद बचपन में ही आश्रम में बस गया था। मैं जहाँ कहीं भी होता हूँ, वह अपनी फैली फटी-फटी आँखों से मुझे निहारता है - मैं क्या हूँ, यह वह नहीं समझ पाता - न मैं तीर्थयात्री लगता हूँ, न कल्पवासी- मैं उसे आधा हिप्पी, आधा जिप्सी-सा दिखाई देता हूँगा—जो अपने पाप-पुण्यों को एक डफल बैग में समेटकर कुम्भ मेले में भटकता है।

आप भी संगम जाएँगे?"
उसने सन्देह से मेरी ओर देखा।
"हाँ, इसीलिए आया हूँ," मैंने कहा। "यह सीटी कौन बजा रहा है?" “पुलिस," उसने कहा। "यात्रियों को रास्ता दिखाना पड़ता है - बेचारे अँधेरे में भटक जाते हैं।"

दबी ठिठुरती आवाज़ें, भजन की कुछ पंक्तियाँ ठंडी रेत और भूरी चाँदनी पर उठती हैं, किसी बूढ़े स्नानार्थी का काँपता स्वर हवा में बहुत दूर तक रिरियाता रहता है। मैं पम्प को ढूँढ़ता हुआ आश्रम का चक्कर लगाता हूँ। लगता है, सब सो रहे हैं। हवा में ख़ाली झोंपड़ों के दरवाज़े सरसराते हैं, खुलते हैं, बन्द हो जाते हैं। सब कुटियों से अलग सच्चे महाराज की यज्ञशाला दिखाई देती है-पीले फूल के मंडप, एक छत पर दूसरी छत, जैसे कोई जापानी पैगोडा चाँदनी में चमक रहा हो!

मैं इस मेले में ख़ाली होकर आया था। सब कुछ पीछे छोड़ आया था - तर्कबुद्धि, ज्ञान, कला, जीवन का एस्थेटिक सौन्दर्य। मैं अपना दुःख और गुस्सा और शर्म और पछतावा और लांछना-प्रेम और लगाव—और स्मृतियाँ भी छोड़ आया था। मैं बिलकुल ख़ाली होकर आया था-ख़ाली और चुप - क्योंकि शब्द बहुत पहले किसी काम के नहीं रहे थे। चुप और अदृश्य। मैं अथाह भीड़ में अपने को अदृश्य पाना चाहता था।

कैम्प के बाहर आया तो असंख्य छायाएँ दिखाई दीं। बीच सड़क पर रेंगता हुआ प्रेतों का जुलूस। एक साल बाद मैं किसी जुलूस में निडर शामिल हुआ था। यहाँ कोई डर नहीं, कोई अफ़वाह नहीं, कोई झूठ नहीं। छायाओं से डर कैसा? प्रेतों के बीच मैं एक प्रेत था।न मैं उनसे डरता था, न वे मुझसे।सुबह का अँधेरा-जिसमें किसी का चेहरा नहीं दिखाई देता था। कहते हैं, यह अँधेरा सबसे निविड़, सबसे गहरा, सबसे ज़्यादा रहस्यमय होता है। डूबते चाँद की एक पतली, पीली परत झर रही थी— रेत के ढूहों पर अखाड़ों की पताकाओं पर, फूस के झोंपड़ों पर पीछे बाँध की बत्तियाँ, सामने झूसी का मैदान-दोनों के बीच देवता हवा में उड़ते हुए जैसे वह जगह, वह बिन्दु, वह कोना ढूँढ़ रहे हों, जहाँ अमृत घट को छिपा सकें। क्या वे अपने को असुरों की आँखों से बचा पाएँगे?

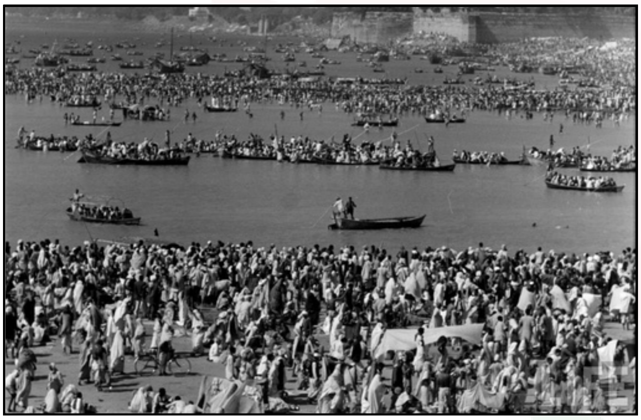

शायद यही ख़याल मेरे सहयात्रियों को मथ रहा है-वे कभी इधर देखते हैं, कभी उधर। सीधी सड़क गंगा की ओर जाती है, दाईं पगडंडीनुमा रेखा संगम की ओर। उनके शब्द, गाते हुए भजनों के कुछ पद, उनकी थकी हुई आहें, उच्छ्वास, छिटपुट बातें कानों में पड़ जाती हैं। लगता है, अँधेरे में मैं उनका चेहरा-मोहरा, वेशभूषा न भी देख सकूँ तो भी सिर्फ़ शब्दों के उच्चारण, बातचीत के लहज़े से पता चला सकता हूँ कि कौन मध्य प्रदेश से आया है, कौन बिहार से, कौन राजस्थान से। किन्तु ऐसे भी शब्द हैं जिन्हें मैं बिलकुल नहीं समझ पाता, जो अँधेरे से निकलकर अँधेरे में लोप हो जाते हैं—अपने पीछे ख़ामोशी का एक दायरा छोड़ जाते हैं। मेरा सम्बन्ध इस ख़ामोशी से रहा है— चेहरों के पीछे कविता की लाइनों के बीच, अपने भीतर और अब - कुम्भ के मैदान में।

अब मैं देख सकता हूँ-अचानक उजाले में! पूर्व में एक छोटा-सा लाल पिंड, एक सुर्ख आँख-सा डिस्क। उसे देखकर मैं उसी तरह चौंक जाता हूँ, जैसे पहली बार बाइबल में यह वाक्य पढ़कर रोमांचित हो उठा था-'लेट देयर बि लाइट एंड देयर वॉज लाइट'। मैंने कभी ऐसा आलोक नहीं देखा - और तब मुझे सहसा महसूस हुआ कि यह आज का दैनिक उजाला नहीं, कोई प्रागैतिहासिक आलोक है, जब दुनिया पहली बार अँधेरे से बाहर आई थी। मेले का मैदान एक घोंसले-सा धूप में औंधा पड़ा है -दूर गंगा को छूता हुआ। पीली सफ़ेद बालू का द्वीप, जिसे गंगा एक कैंची की तरह काटकर आगे बढ़ गई है, जैसे यमुना की मंथर गति से ऊबकर स्वयं बेचैनी में आगे बढ़कर छोटी बहन से मिल रही है।

पुनश्च..।

डि'प सा'ब की तीसरी बेटी

सूर्यबाला
व्यास सम्मान से अलंकृत साहित्यकार

दिन, महीने अधीर उत्तेजना और उतावली में ही बीते। किसी से कुछ न कह कर भी मन में एक बलवती उम्मीद हिलोरे ले रही थी। किस महीने की किस तारीख को छात्रवृत्ति कमेटी की मीटिंग है, यह भी किससे पूछा जाए... अपनी तो कोई पहचान भी नहीं... विश्वविद्यालय भी इतनी दूर है कि रिक्शे के पैसों की वजह से कहां जाना हो पाता है। मोबाइल की कौन कहे 'फोन'भी आज से आधी सदी पहले एक 'करिश्मा'ही हुआ करता था। हमारे जैसों की पहुंच से बाहर। या तो धन्ना सेठ रईसों के पास... या उनके घरों में जिनकी नौकरी या पेशे की यह अनिवार्य आवश्यकता हो।

अब तक पता चल गया था कि छात्रवृत्ति कमेटी की मीटिंग हो चुकी। हो चुकी तो क्या हुआ? मिश्र जी ने तो पूरा आश्वासन दे ही दिया है। फिर भी अब तो फोन कर के पूछा ही जा सकता है। हमारी पूरी गली में फोन सिर्फ नुक्कड़ के एक बंगाली घर में था। जहां वक्त जरूरत लोग उपयोग कर लिया करते थे। स्वयं मैंने भी एकाध बार उनसे यह मदद ली थी और उन्होंने बड़ी विनम्रता से फोन आगे कर दिया था।

लेकिन आज जैसे ही फोन वाले घर में गई उन्होंने फौरन सख्ती से कहा 'आठ आना चार्ज होयेगा'- मैं एकदम हड़बड़ा गई। उस समय पैसे भी कहां थे अपने पास! तो अनुरोध किया कि घर जाते ही पैसे भेज दूंगी। कह कर उन्हें कागज पर लिखा मिश्र जी का नंबर पकड़ा दिया। उन्होंने नंबर लगा कर फोन मेरे हाथों में थमा दिया। फोन पकड़ने के अनभ्यस्त हाथ और कांपते शब्दों में मैंने मिश्र जी को प्रणाम किया अपना नाम बताया और छात्रवृत्ति वाली बात की याद दिलाई...
मैं सांस रोक कर सुन रही थी।

दूसरी तरफ से आचार्य मिश्र जी की इत्मीनानी सी आवाज आ रही थी, एक एक शब्द मेरे कानों में टपक टपक कर बर्फ की तरह जमते जा रहे थे। उन शब्दों का ध्वन्यार्थ यह था कि दरअसल वे एक आवश्यक वायवा तथा मीटिंग के लिए शहर से बाहर थे और इसी बीच छात्रवृत्ति कमेटी की मीटिंग हो गई और 'वह वाली'छात्रवृत्ति मेरी जगह किसी अन्य शोध छात्र के नाम ग्रांट हो गई।... अब, ऐसी स्थिति में उस छात्र का नाम कटवा कर 'किसी अन्य' का डलवाना जरा अशोभनीय...
- जी नहीं, बिलकुल नहीं... इसकी कोई आवश्यकता नहीं... धन्यवाद सर...!

मेरे हाथों ने रिसीवर वापस फोन पर रख दिया था... और उन्हें धन्यवाद दे लौट ली थी...
उस घर से मेरे घर के बीच की कुल सात घरों की दूरी बहुत पनीली हो गई थी मेरे लिए। गली के पहचाने रास्ते नहीं सूझ रहे थे... और... घर में मां मेरा रास्ता देख रही होगी...
मेरे अंदर से 'मैं'गायब थी सिर्फ 'मां'रह गई थी अब। क्या कैसे कहना, बताना है मां को!... आपस में कुछ न कहने पर भी हम दोनों ने अंदर अंदर पहली बार किसी चीज को निश्चित समझ लिया था... कब सीढ़ियां चढ़ कर ऊपर आ गई मुझे पता भी न चला और... ठीक सामने मां थीं... एक पल में मेरे अंदर के अथाह को थहाती हुई... अब मां जैसे खुद से बुदबुदा रही थीं-
नहीं हुआ, न सही... अरे सब भगवान हैं।... चलो सब, खाना गरम करती हूं।...

ओह मां! तुमने कितने गहरे भंवर से उबारा मुझे।...
- उन्हें आठ आने भिजवाने हैं फोन के...
- अभी भिजवा देती हूं न, बैठक वाले (किरायेदार लड़का) बेनी माधव से-
और मां ने ऊपर से आवाज दे दी थी-
- सऽऽब भगवान के ऊपर छोड़ कर तू आराम से अपनी, पढ़ाई कर। सब होगा, देखो कोई काम रुका आज तक? अपने अंश का नहीं था, नहीं हुआ। बस...
यह मां, खुद से ज्यादा मुझे और मुझसे ज्यादा खुद को समझा रही थीं!
छोटी बहन, भाई पता नहीं कितना, क्या समझे... क्या मालूम!

जाने कैसे किताबें जुट पुट गईं थीं बिना नागरी प्रचारिणी गए ही... कुछ गुरु जी के पास से कुछ बी.एच.यू. लाइब्रेरी, कुछ अन्यत्र से। समय की कहां कमी। घर की रसोई से लेकर बाहर तक, सारा कुछ तो मां ही संभालती थीं। मैं सिर्फ बाहर के काम करती थी, वह भी अब छोटी बहन करने लगी थी। वह मुझसे कहीं ज्यादा दबंग, सुलझी और आत्मविश्वस्त थी। वह खुश खुश सारा कुछ संभाल रही थी। यहां तक कि मेरे विवाह से जुड़ी बातों में भी अपना पूरा दखल देने लगी थी। मेरे विवाह के लिए, मुझ तक आने से पहले ही वह उम्मीदवारों के नाम 'सूची'से काट दिया करती थी। और कभी अगर बहुत डांट डपट पर खबरदार की चेतावनी मिली तो इस शुभ कार्य की 'बातचीत'चलाने वाले के जाते समय, कुछ वश न चलता तो खाली बाल्टी या कलसी रख कर अपशकुन कर देती। इस अपशकुन को बदलने की तरकीब घर में किसी के पास नहीं थी। भाई अभी भी किशोर वय से गुजर रहा था। बड़ों से जुड़ी बातों में उसका दखल नहीं के बराबर था। लेकिन छोटी बहन ने हठपूर्वक मेरे लिए प्रस्तावित उम्मीदवारों की 'छंटनी'का जिम्मा स्वयं पर ले लिया था। 'दीदी'के लिए उसके अपने निकष थे। उस पर खरा उतरे बिना कोई मेरे पास नहीं फटक सकता था।... किसी भी बात पर अपनी हठधर्मिता के लिए जानी जाती थी वह...
और मैं! स्वयं मुझसे जुड़े इतने महत्वपूर्ण संदर्भों से जैसे पूरी तरह उदासीन थी। जैसे एक खास स्थिति में आकर घर के बड़े बूढ़े सोचने लगते हैं, 'जिसमें बच्चों की खुशी', कुछ उसी तरह मेरे सोचने की बस एक दिशा थी... 'जिसमें मां को थोड़ी सी भी राहत मिल सके... वही'।
रीति काव्य से जुड़े अपने टॉपिक का पहला अध्याय, 'काव्य में वस्तु रूप और शिल्प'शीर्षक से लिख लिया था। मां से पूछ कर गुरु जी के घर दिखाने गई। उन्होंने पूरी रुचि से सुना, संतुष्ट हुए संशोधन के थोड़े बहुत निर्देश भी दिए... फिर चाय पीते हुए बड़े स्थिर भाव से पूछा, 'सुनो, तुमने कहीं किसी से छात्रवृत्ति वगैरह के लिए कहा... या कोशिश की थी... क्या?'
मेरे लिए 'छात्रवृत्ति' शब्द अब डंक मारने जैसा सहमा देने वाला था। शांत बुझे स्वर में बोली - जी नहीं गुरु जी... मैं दूर-दूर तक किसी को नहीं जानती -
- 'फिर भी... कोई तुम्हारी जान पहचान में था जिससे तुमने जिक्र किया हो -'
- जी नहीं, मेरा वही उदासीन स्वर।
वे एक क्षण को हैरान हुए... फिर समझाते हुए बोले -
- अच्छा सुनो... पता नहीं अभी मुझे तुमसे ये कहना चाहिये भी या नहीं... ऐसा है, जहां तक मेरे सुनने में आया है... तुम्हारे नाम की दो सौ रुपये महीने की छात्रवृत्ति शायद स्वीकृत हो गई है, लेकिन तुम अभी किसी से कुछ कहना मत...

- मैं इस पर स्वयं विश्वास नहीं करती सर... तो किसी से कुछ कहने का सवाल ही नहीं। मैं यह सारा प्रसंग भूल जाना चाहती हूं।
- हां, अपनी तरफ से यही ठीक है... फिर भी जाने क्यों मन में आया कि तुम्हें बता दूं...
- जी सर, आप न बताते तो ही अच्छा था...
- अच्छा चलो, यह किस्सा यही खत्म करें... तुमने कुछ नहीं सुना।

कुछ नही सुना? क्या कहते हैं गुरु जी... क्या कह दिया सर आपने... मेरे साथ क्या ऐसे ही होता रहेगा हमेशा? कोई कुछ भी कहकर भूल जाने का आदेश दे दिया करेगा!

काश आप समझ पाते कि आप के लिए जितना आसान है यह भूलना मेरे लिए नहीं... आप नहीं जानते दो सौ रुपयों की क्या कीमत बनती है मेरे और मेरी मां के लिए...

मैं रिक्शे में बैठी हूं और रिक्शा जैसे भूचाल में उड़ा जा रहा है - क्या करूं सर ने जो कहा है मां से कहूं या नहीं? क्यों कहना? मां वैसे ही क्या कम भूचालों में जी रही हैं?... चलो छोड़ो। चालीस की तो मिली नहीं जिसके लिए मिश्र जी ने कहा था कि बड़ी छात्रवृत्तियां तो अलॉट हो चुकी हैं। एक दो सहायतार्थ किस्म की होती हैं उसके लिए कोशिश की जा सकती है और मैंने सोत्साह हामी भर दी थी।

नतीजा, मिश्र जी गायब ही रहे छात्रवृत्ति कमेटी की मीटिंग भी हो गई। मिल जाती, मिल जाती - नहीं मिली, नहीं सही। क्या फर्क पड़ता है उनके लिए? मैंने फोन किया तो खेद जाता दिया बस। अच्छा, क्या उन्हें स्वयं इसका ध्यान नहीं रखना था?... क्या वायवा के लिए जाते हुए किसी को सचेत कर, कह कर नहीं जा सकते थे? ओह, मुझे कुछ भी पता नहीं कि ये मीटिंगों, सेमिनारों, कॉनफ्रेंसों में व्यस्त रहने वाले लोग हैं... इनके लिए यह कितनी टुच्ची सी रकम है, ध्यान से उतर जाने वाली बात...

और आज मुझे 'सुसमाचार' दिया जा रहा है... मैं खाली पड़ी ढोलकी हूं जिसने चाहा, जैसा चाहा, बजा लिया...

नहीं मां से बिलकुल नहीं कहना है। बिलकुल बिलकुल नहीं। बहुत छलावे, बहुत धक्के झेल रही हैं वे आए दिन... किरायेदारों से, लेनदारों से... बिजली के बकाया बिलों से, मकान पानी के बादामी टैक्स वाले कागजों से, बहन भाई और मेरी फीस से, भाई के डिप्रेशन से, ब्याही बेटियों के ऑपरेशनों, त्योहारों और रिश्तेदारियों की शादियों से, बड़े दामाद के गुस्सैल स्वभाव से... ओह... ओह... लेकिन उनकी सबसे बड़ी चिंता - कि मुझे ज्यादा चिंता न हो...

तो इतना काफी है।... गुरु जी ने कुछ नहीं कहा।

घर आकर एक कहानी फेयर की - 'अंतिम पत्र' और दादा को भेज दी। एक टॉपिक कभी का मन में घूम रहा था - 'दहेज प्रथा के लिए क्या नवयुवक दोषी नहीं', रफ लिख भी गया है लेकिन इसे अपने नाम से नहीं दूंगी। लोग इसे स्वयं मेरे ऊपर ले लेंगे। मां को भी नहीं अच्छा लगेगा। ठीक है छद्म नाम डाल कर भेज दूंगी दादा को 'आज'के लिए...

चिट्ठी आई है आई है आई है

पोस्टमैन 'सूर्यबालाऽऽ'नाम लेकर पुकारता है। मालूम है, 'आज' में छपीं कहानी का दस रुपये वाला मनी ऑर्डर होगा। हमेशा की तरह एक रुपये पोस्टमैन को और बाकी नौ रुपये पूजा की चौकी पर।

या फिर 'आज'के उस वाले अंक की प्रति या फिर- नहीं, यह तो रजिस्ट्री से आया सेंट्रल ऑफिस बी.एच.यू. का 'कॉनफिडेंशियल' लिफाफा है। अंदर उत्तेजना, हड़बड़ाहट और अधैर्य का भूचाल सा आया है।... इसे जल्दी से पूजा की चौकी पर चढ़ा कर खोलना है। थरथराती उंगलियों में थमें टाइप हुए पत्र का मजमून पढ़ती हूं मैं। इंगलिश के छपे अक्षरों में सूचना है कि 'आपको दो सौ रुपयों की स्कॉलरशिप ग्रांट कर दी गई है। आप से अनुरोध है कि संबद्ध ऑफिसों से इसकी प्रति प्राप्त कर अपने विभाग के अध्यक्ष द्वारा हस्ताक्षर करा के वि.वि. के सेंट्रल ऑफिस में रजिस्ट्रार श्री लाल के पास जमा करा दें... मैंने और मां ने एक दूसरे की तरफ नहीं, एक साथ पूजा की चौकी की तरफ देखा है...

अब देर नहीं करनी है जल्दी से जल्दी पत्र की प्रति लेकर सेंट्रल ऑफिस में जमा कर देनी है। अचानक याद आया, पिछली बार गुरु जी ने कहा था, 'तुम्हारी छात्रवृत्ति का आदेश आ गया है लेकिन डॉ. शर्मा बिना बात का बखेड़ा खड़ा कर रहे हैं... खैर वे कुछ ज्यादा कर नहीं पाएँगे...' अब?

यहां मेरी कोई मदद नहीं कर पाएगा। मैंने हिंदी-विभाग के ऑफिस से पत्र लिया और हिंदी विभाग के स्टाफ रूम में गुरु जी के पास गई। गुरु जी ने अपनी संस्तुति कर दी। इतनी सी देर में सामने चारों तरफ वहीं प्राध्यापकों में से किसी एक की आवाज आई... 'हैव यू बीन माय स्टूडेंट एट बेसेंट कॉलेज?...'

मैंने चौंक कर देखा, सामने सफेद मूछों वाला एक वत्सल चेहरा मुझसे पूछ रहा था।... मैंने उन्हें पहले कभी नहीं देखा था... पर जाने कैसे तत्क्षण समझ गई, ये अवश्य वे ही विद्याभूषण मिश्र जी हैं जिनकी क्लास की एक से एक दिलचस्प और ज्ञानवर्धक बातें जीजी बताया करती थीं... कैसे हंसाते हैं, कैसे मुश्किल, मुश्किल चीजें भी असानी से एक्सप्लेन कर देते हैं... कितने ममतालु... लेकिन अनुशासित... प्रकांड विद्वान लेकिन विनोदी भी... सारे शिक्षकों से अलग... उनकी उपमाएं, रूपक लड़कियों को हंसा-हंसा कर विभोर कर देने वाले... और मुझे तो पता नहीं क्यों बच्ची ही समझते हैं...

मैं उस एक पल में निहाल हो गई - पलांश के लिए भी, मुझे 'जीजी'समझा गया... क्या थोड़ी सी ही सही, मैं जीजी जैसी दिखती हूं।...

(ये बातें बहुत महत्वपूर्ण हैं मेरी जैसी लड़की के जीवन में)

- 'वो मैं नहीं... मेरी बड़ी बहन वीरबाला थीं सर...' ओ... मतलब बात सच थी। उन्होंने मुझे जीजी ही समझा कैसी रोमांचक अनुभूति... जल्दी से जल्दी जीजी को बताना है।... कितना अच्छा लगेगा उसे इतने वर्षों बाद भी उसका चेहरा, उसके एक शिक्षक को याद है।...

मेरे जीवन का एक मात्र खलनायक

विभागाध्यक्ष डॉ. शर्मा के केबिन के बाहर मैं अपना फॉर्म लिए खड़ी थी... खड़ी रही... दरवाजा आधा खुला था - लोग संकेतों की अनुमति से जा आ रहे थे... अंत में जब कोई नहीं रह गया तो मेरी तरफ संकेत हुआ मैं धड़धड़ाता बहदवास मन संभाले अंदर गई और कागज उनके सामने रख दिया...

क्या है ये? एक कर्कश आवाज गूंजी।

जी संस्तुति -'

कैसी संस्तुति?... उन्होंने गगनभेदी गर्जना की - 'ले जाइए यह कागज... मैं इस पर हस्ताक्षर नहीं करने वाला... कह दिया न, ले जाइए... वापस वे दुबारा गुर्राए।

आज तक घर, बाहर में किसी ने मुझे जोर से डांटा भी नहीं था।

मैंने अपनी आंखों और चेहरे को नियंत्रित किया। बगल से लगे क्लर्क के कमरे में गई। कुछ कहना नहीं पड़ा, क्लर्क जानता था।

मैंने कहा - करूं क्या अब! - सीधे सेंट्रल ऑफिस चली जाऊं?

क्या बताता वह! फिर भी कहा - हां, बिलकुल जाइए...' जैसे इतनी सहानुभूति तो वह मुझे दे ही सकता है।

सेंट्रल ऑफिस बहुत पास नहीं था। वैसे भी काशी हिंदू विश्वविद्यालय में एक विभाग से दूसरा विभाग, ऑफिस, काफी दूर दूर पड़ते हैं लेकिन मुझे किसी दूरी, रास्ते का ज्ञान नहीं था। बाहर मई की दोपहर तप रही थी। कतार के कतार लाल गुलमोहर लू की तेज़ लपटों में दहक रहे थे। हवा गरम और तेज़ थी। जाने कैसे मेरी आंखों में अब तक भाप बने आंसू बह कर निकल आए।

रो ली तो मुझे शर्म आई अपनी दुर्बलता पर।

कसकर खुद को डांटा, बंद करो ये रोना...

और अपनी चाल तेज कर दी।... उस सुनसान गरम दोपहरी में, गुलमोहरों की दहकती छांव-तले तेज़-तेज़ चलती मैं।

अब सामने सेंट्रल ऑफिस था। रजिस्ट्रार के कमरे के बाहर से 'मे आई कम इन सर!' कह कर मैं अंदर गई...

रजिस्ट्रार मि. लाल ने गर्दन उठाई।

- 'सर! ये ये कागज मैं आपको वापस करने आई हूं-'

उन्होंने मेरी और प्रश्नवाचक निगाहों से देखा। एक संभ्रात, दृष्टि।

- 'विभागाध्यक्ष डॉ. शर्मा इस पर हस्ताक्षर नहीं कर रहे... तो यह मेरे किस काम का! मुझे कोई स्कॉलरशिप नहीं चाहिए... सर...!

उनकी आवाज में एक ठहरी हुई अनुशासित, शालीनता थी-

- बेकार परेशान कर रहे हैं वे आपको... उनके रिक्मेंड किए लड़के को भी हम ग्रांट कर चुके हैं। ले जाइए दुबारा, करेंगे हस्ताक्षर... दो चार दिन रुक कर, फिर जाइए।

थैंक्यू सर...

अगले सप्ताह फिर डॉ. शर्मा का वही केबिन... वहीं मैं... अवशता, आक्रोश और आत्मधिकृति से लथपथ। उछल कर बाहर आती धड़कनों को समेटती, अपना 'ऑर्डर'सीधे उनकी टेबिल पर रख बिना एक शब्द बोले, बुत खड़ी थी मैं। उन्होंने फार्म अपनी तरफ खींचा, हस्ताक्षर खचाया और आग्नेय दृष्टि से मेरी तरफ देखते हुए गरज कर कहा - 'ले जाइए...'

मैंने एक झटके से कागज थामा और तेजी से बाहर आ गई।

मेरे हाथों में थमा कागज मेरी जीत की सनद था...

मुझे तय करना है!

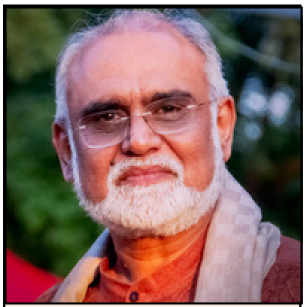

सच्चिदानंद जोशी
सदस्य-सचिव
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय
कला केंद्र

ऐसा बहुत कुछ है जो जीवन
में मैंने नहीं किया
लेकिन ऐसा भी कुछ है
जो सिर्फ मैंने किया है।
नहीं किए का दुख मनाना है
या किए की खुशी
मुझे तय करना है।

जीवन में बहुत कुछ है जो
मैंने नहीं पाया
लेकिन ऐसा भी कुछ है
जो सिर्फ मैंने पाया है।
नहीं पाए के बारे में
सोचते रहना है
या पाए को लेकर आगे बढ़ना
है मुझे तय करना है।

जीवन में बहुत जगहें हैं
जहां मैं नहीं गया

लेकिन ऐसी भी जगह है
जहां सिर्फ मैं ही गया

नहीं गए की खोज में रहना है
या गए के साथ जाते रहना है
मुझे तय करना है।

जीवन में ऐसा बहुत कुछ है जो
मुझे नहीं मिला
लेकिन ऐसा भी है जो सिर्फ
मुझे मिला है।
नहीं मिले की कुंठा में जीना है
या मिले का उत्सव मनाना है
मुझे तय करना है।

ऐसा बहुत कुछ है जो किसी और
की प्रतीक्षा में
तय ही नहीं हुआ।
लेकिन ऐसा भी बहुत कुछ है जो
अनायास तय होता चला गया।
किसी की बाट जोहते रहना है
या अपना रास्ता खुद बनाना है
तय मुझे ही करना है।

इतनी सिर्फ कहानी थी

कपिल कुमार
बेल्ज़ियम

बचपन था नादानी थी
पग-पग पर हैरानी थी

दीवानों से फिरते थे
कैसी मस्त जवानी थी

चुस्ती में फिर सुस्ती आई
उम्र तो ढलती जानी थी

दो रोजा मेहमान थे हम
दो रोजा मेहमानी थी

आए ठहरे लौट गए
इतनी सिर्फ़ कहानी थी।

हमने तकिया बदला
तुमने बिस्तर बदल दिया

हमने रस्ता बदला
तुमने रहबर बदल दिया

फ़र्क़ यही है सचमुच हम
दोनों के बीच यहाँ

हमने अचकन बदली
तुमने अस्तर बदल दिया।

रंग

लीलाधर मंडलोई
प्रतिष्ठित चित्रकार,
फिल्म निर्माण व
निर्देशन

बचपन में जो रेखा
पहले-पहल खींची थी
तूलिका से जो पहला रंग
कापी में उपयोग किया था
दोनों चले आए पकी उम्र तक
अब मैं रंगों के आसमान से
धरती को लिए कैनवस के साथ
चित्र में रंग प्रेम के साथ
डूब जाता हूं और
वहां सृष्टि अपने शिल्प में
नए रूप में साकार होकर
आश्चर्य में कायांतरित हो जाती

आवरण पृष्ठ चित्र

उपहार

उपहार में मिले
वे सिर्फ़ पंख नहीं थे
रंगों की दौलत थी
उनका स्पर्श
ले जाता है मुझे
एक अदृश्य रंग-लोक में।

रंग प्रेम

मैं रंगों में सोचता हूँ
रेखाओं के रियाज़ में
उम्र गुज़रती कब है..
गोया कल की बात है
कायनात बदलती है रोज़
और एक पल पहले का चित्र
अवचेतन में धुंधला जाता है
मैं अरूप में रूप खोजता हूँ
और एक नया चित्र
बहते हुए रंगों में
नुमाया हो उठता है।

मोर

आषाढ़ के बादलों की यह मड़ई
अच्छे सगुन के साथ आई है
ऊपर से एक सिंफनी है उतरती
और इधर पक्षियों के सुहाने बोल
इसी बीच मैं पहुंच जाता हूं
तलहटी में कितना तीव्र आकर्षण
डूबी है धरती अनोखे संगीत में
और दृश्यों की अनुपम छटा बींधती है

वहां मोर इतने बेसुध
कि ठुमक रहे हैं और
उनके पंखों ने सिरज दिए इंद्रधनुष
जिनका प्रतिबिम्ब आंखों में फ्रीज़ है
मैं एक चोर की तरह पेड़ की ओट में हूँ
उनकी समूची देह अनूठे राग में विन्यस्त
मनलुभावन मुद्राओं में वे नृत्यलीन
मैं जो एकदम अनभिज्ञ हूं इस जादू से
कुछ और हो रहा हूं भीतर से
मेरे पांव अपने-आप थिरक रहे हैं
क्या मैं भीतर से मोर हो रहा हूँ !

मछली की सांस

मोहन राणा
बाथ, इंगलैंड

अतीत से ही हम पहचनाते हैं क्या भविष्य के वर्तमान को
प्रश्न मुझे आश्वस्त करता कुछ जान पाना की संभावना में
आइने भी नहीं कर पाते पुष्टि अपनी शंकाओं की
होती है हर सुबह किसी रात का सपना ही
गहराई सतहों के उद्वेलन में नहीं होती
पर मेरे पास नहीं मछली की सांस कि वहाँ उतर सकूँ
मूँद कर आँखें एक करवट में
बहुत कुछ पढ़कर भूल जाने के बाद

अनसुना

बहरा तो मेरा शब्द है
मैं उसे पुकारता हूँ अपनी प्रतिध्वनि में,
उसे सोने दो करवटों में
खोजने दो उन सलवटों की स्मृति

मैं उसे पुकारता हूँ अपनी प्रतिध्वनि में,
उसे सोने दो करवटों में खोजने दो उन सलवटों
की स्मृति

मेरी भाषा की जमीन मेरी रचना है
समूल मैंने रोप दिया उसकी जड़ों को पश्चिम
की परती धरती पर

ये बिना नक़्शे की यात्राएँ
पाठक को ख़ुद नक़्शे बनाने पड़ेंगे गुम हो चुके
शब्दों की खोज में ,
संभव है जिनमें गुम पतों का एक जोखिम है।

पर लापताओं का मिल जाना गारंटी है इनकी
दुनिया में अपने आपको खोकर उस प्रेम में

कवियों का समय कम हुआ कि ज्यादा हुआ
समय कितना बीता पता ही नहीं चला

मरीचिकाओं के क्षितिज में
अकाल के पुजारियों को घड़ियों से क्या मतलब
मैंने सुना बैठक के अंत में अनुसना

लिखा केवल केवल अनुवाद

लिखा केवल अनुवाद मौलिक मानकर
आँख खुली कोई और थामे था मेरा हाथ
लिखवाता अपने शब्दों को कोरे काग़ज़ बेहतर
बने नहीं कविता का मक़सद
कहने का चुना रास्ता समझाना भी नहीं
उसका मक़सद,

शब्द बता सकते हैं पहचान केवल किसी
मौसम की किसी ज़मीन कहीं दर-ओ-दीवार
की
आत्मा की दरार में उगे दुख की लिखा केवल
एक अनुवाद है जो पढ़ा अब तक,
बेसब्र हैं पेड़ों परे छुपी छायाएँ कुछ कहने को
देर हो गई,

पतझर भी सो चुका अपलक जागकर
घिसे शब्दों के रास्ते मैं गिरा हूँ
कितनी बार समझने समझाने की ज़िद में,

मुझे तो अब मौन को लिखना है पहले मन को
कोरा कर-करके

विज्ञान व्रत की ग़ज़लें

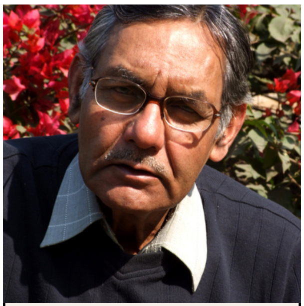

विज्ञान व्रत
स्वतंत्र लेखक और
चित्रकार

(1)
मुझ पर कर दो जादू-टोना
एक नज़र ऐसे देखो ना

इतने दिन में घर आए हो
घर जैसे कुछ देर रहो ना

बादल हो तुम या ख़ुशबू हो
बरसो खुल कर या बिखरो ना

ढूँढ़ न पाया ख़ुद को घर में
छान फिरा हूँ कोना-कोना

तुमसे ख़ुद को वापस क्या लूँ
रक्खो अब तुम ही रक्खो ना।

(2)
मुझको समझा मेरे जैसा
वो भी ग़लती कर ही बैठा

उसका लहजा तौबा! तौबा!!
झूठा क़िस्सा सच्चा लगता

महफ़िल-महफ़िल उसका चर्चा
आख़िर मेरा क़िस्सा निकला

मैं हर बार निशाने पर था
वो हर बार निशाना चूका

आख़िर मैं दानिस्ता डूबा
तब जाकर ये दरिया उतरा।

ज़िंदगी में लोग भी मिलते रहे

रेखा राजवंशी
ऑस्ट्रेलिया
लेखिका, संपादक
और अनुवादक

ज़िंदगी में लोग भी मिलते रहे
फूल भी कुछ आस के खिलते रहे

कुछ दिया बाती बने, अँधियार में
और अपने बन के, कुछ छलते रहे

जिनको सर आँखों पे रक्खा,
लोग वो, तोहमतें हम पे लगा,
जलते रहे

किससे कहते, अपने ग़म की दास्ताँ
अश्क़ दामन में छिपा, चलते रहे

धूप में जब रंग, फ़ीका पड़ गया
हम नई - तस्वीर में, ढलते रहे

ज़िद तो उनकी ख़ाक कर
देने की थी,
कुछ करम अच्छे थे, जो फलते रहे

मौत तो इक दिन, मुअय्यन है यहाँ
रंक राजा हाथ सब मलते रहे

कमीला और कमली

प्रगति टिपणीस
रूस
अभियांत्रिक (प्रबंधन)

कमीला को कई लोग यह बता चुके थे कि उसकी एक हमशक़्ल भारत में भी रहती है, जिसे लोग कमली कहते हैं। कमली के कानों तक भी कमीला की बातें पहुँची थीं। एक बार कमीला के देश के एक साहब कमली के यहाँ पहुँचे, वे कमली की ज़बान जानते थे। उन्होंने उसे बताया कि वह कमीला से हूबहू तो नहींव मिलती लेकिन कोई भी यह कहने से नहीं चूकेगा कि वे दोनों जुड़वा बहने हैं।

कमली के गाँववाले उसे पसंद बहुत करते थे लेकिन वह उन्हें थोड़ी अलग लगती थी। कमली की बातें और उन्हें सुनाने का उसका अन्दाज़ लोगों को इतना भाता था कि वे मंत्रमुग्ध होकर उसे सुनते रहते थे। पर यह बात उनके लिए एक पहेली बनती जा रही थी कि कमली अपनी बातों में नाम वगैरह इतने अजीब-अजीब क्यों लेती है।

कई बार वह कुछ अनजाने-से शब्द भी इस्तेमाल करती थी। उसकी बातों में जहाँ उनकी ज़मीन से जुड़े मुहावरे होते थे, वहीं कुछ बेहद अनजान-सी बातों की चर्चा होती थी। कमली की लोकप्रियता का शायद एक कारण यह भी था कि वह किसी दूरदराज़ के देश और वहाँ की ज़िन्दगी से गाँववालों का परिचय उनकी अपनी बोली, अपनी भाषा में कराती थी, घर बैठे-बिठाए वह उन्हें उस देश की सैर करा लाती थी।

कमली को लोग अब बेहतर जानना चाहते थे। उन्हें उस शख़्स की याद आई जिनकी उँगली पकड़कर कमली गाँव आई थी। वे उनसे मिलने के लिए रवाना हुए। वह शख़्स अब बूढ़ा हो चुका था। कमली का ज़िक्र होते ही उसकी बाँछें खिल गईं। वे लाठी टेकते-टेकते चल पड़े कमली से मिलने। उसे देखकर, कुछ यादकर के वे किसी अनजान ज़बान में बड़बड़ाने लगे। पास बैठा एक बच्चा ख़ुशी से उछल पड़ा और बोला अरे ये तो वही भाषा बोल रहे हैं, जो मैं स्कूल में सीख रहा हूँ। बच्चे ने अपनी टूटी-फूटी विदेशी भाषा में जब उनका अभिवादन किया तो वे उस तन्द्रा से बाहर आए जिसमें कमली को देखने पर चले गए थे।

उन्होंने बताया कि ‘कमली’ दूर देश की एक रचना ‘कमीला’ की नक़ल है। उनकी आँखों में अब चमक आ गई थी, क्योंकि ऐसा बहुत कम होता था कि कोई उनके काम के बारे में जानना चाहे। वे पूरी तरह से रमकर बतियाने लगे, कहने लगे कि जब कोई रचना मुझे बहुत भा जाती थी तो मेरा मन मचल उठता था उसकी नक़ल बनाने का। नक़ल गढ़ते समय मिट्टी, पानी और अन्य सामग्री मैं अपने देस की लगाता था, उसमें रंग अपनी समझ और सामर्थ्य से डालता था, ताकि वह मूल रचना से मिलती-जुलती होने के साथ-साथ ऐसी भी हो कि आप लोगों को वह अपनी लगे। उन्होंने बताया मेरे अनुभव ने मुझे सिखाया है कि कोई भी कृति सिर्फ़ बाह्य आकार और रंग तक सीमित नहीं होती। उसके बाह्य आवरण के नीचे मुहावरों, कहावतों, अलंकारों वगैरह की कई परतें छिपी होती हैं, जिन्हें बड़ी सूक्ष्मता से समझना होता है। मेरे काम के लिए सबसे ज़रूरी है अच्छा अध्येता होना। अपने विषय का गूढ़ अध्ययन किए बग़ैर, उसे पूरी तरह समझे बिना उसका हमरूप बनाना असंभव

काम है; अगर कोई ऐसा करता है तो वह मूल के साथ न्याय नहीं करता। विषय को अच्छी तरह से समझने के लिए शब्दकोशों का सहारा लेना पड़ता है, कई बार मूल रचना के ज़बानवालों से सलाह-मश्विरा करना पड़ता है। जो विदेशी बाबू 'कमीला' के देश से अपने गाँव पधारे हैं, 'कमीला' की गुत्थियों को सुलझाने के लिए मैंने उनसे कई बार लम्बी-लम्बी चर्चाएँ की थीं। और जब इस बात से पूरी तरह से मुतमइन हो गया था कि मैं 'कमीला' को अच्छी तरह से समझ गया हूँ तभी मैंने अपना औज़ार कलम उठाया था।

कलम उठाने के बाद ही मैं सृजनकर्ता बनता था और गढ़ता था नई रचना। 'कमली' को गढ़ने के पहले मैं 'कमीला' में आकंठ डूबा था। गाँववाले 'कमली' को ठीक से समझने के लिए उनकी की शरण में गए थे, लेकिन अब वे ख़ुद उनके लिए एक पहेली बन गए थे। एक गाँववाले ने बड़े संकोच के साथ पूछा, बाबूजी आपका काम कहलाता क्या है?
वे बोले - अनुवाद।

प्रशिक्षण

डॉ. आरती 'लोकेश'
दुबई, यू.ए.ई
शिक्षाविद्, संपादक, शोध मार्गदर्शक

एक अंग्रेज़ी माध्यम विद्यालय गधों द्वारा चलाया जा रहा था। पढ़ने वाले बच्चे गधों की जाति से ऊपर उठ जाएँ अत: एक घोड़े को अध्यापक नियुक्त किया गया। घोड़ा गर्व से फूल उठा और प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया।

घोड़े को कक्षाओं में बहुत आदर मिलता। बालक उसकी कक्षाओं का भरपूर आनंद उठाते। अभिभावकों को भी उम्मीद बँधी कि उनकी संतानें अब गधा नहीं कहलाएँगी। अन्य सभी उस घोड़े से समय-समय पर सलाह लेते। वह अन्य गधे अध्यापकों को प्रशिक्षण देता। वह सीना तानकर निकलता कि गधों के विद्यालय में वह अकेला घोड़ा है। जहाँ सभी को खाने के लिए घास दी जाती, घोड़े के लिए विशेष तौर पर चने मँगाए जाते। घोड़े के दिन हँसी-खुशी बीतने लगे।

विद्यालय का नाम बढ़ने लगा। अब विद्यालय में नए दाखिले होने लगे। प्रबंधन समिति ने निश्चय किया कि प्रधानाचार्य की सहायता के लिए एक मुख्य अध्यापक चुना जाए जिससे व्यवस्था सुचारु रूप से चल सके। घोड़ा भली-भाँति जानता था कि उससे अधिक काबिल विद्यालय में कोई नहीं है अत: वह स्वयं को मुख्याध्यापक के पद लिए तैयार करने लगा। वह अधिक अध्ययन करता। विद्यालय के उत्थान हेतु नवीनतम विधियों-तकनीकों की जानकारी एकत्र करता।

प्रतीक्षा की घड़ियाँ समाप्त हुईं। घोषणा का दिन भी आ ही गया। घोड़ा सूट-बूट पहनकर टाई लगाकर सबसे आगे खड़ा हो गया। प्रधानाचार्य गधे महोदय ने घोड़े के सहयोगी को मुख्याध्यापक चुना क्योंकि घोड़े द्वारा सबसे अधिक प्रशिक्षण उसे ही दिया गया था।

सब बहादुर नहीं होते

ममता कालिया
प्रतिष्ठित एवं पुरस्कृत लेखिका,उनकी उपस्थिति सातवें दशक से निरन्तर बनी हुई है।

उसका पति शिरीष उत्तरप्रदेश सरकार में एक विकास प्राधिकरण में उच्च पद का अफसर था। जब उनकी शादी हुई तभी ये खबरें मिलने लगी थीं कि शिरीष गुप्ता कितना व्यस्त रहता है। दफ्तर की ज़िम्मेदारी उसके कन्धों पर है, मुख्यमंत्री के सब प्रस्ताव उसे पूरे करने रहते हैं, आए दिन वह देश-विदेश के दौरों पर रहता है। किसी तरह उसने शादी के लिए एक महीने की छुट्टी जुटाई है।

इस तरह नंदा उसकी परिणीता बन कर लखनऊ के इस बड़े से बंगले में आई। शादी की गहमागहमी के बाद भी तीन हफ्ते साबुत बचे थे। शिरीष ने कहा, 'चलो घूमने चलते हैं। यहां दफ्तर वाले पीछा नहीं छोड़ेंगे। और कुछ नहीं तो बधाई देने ही आते रहेंगे।
’हनीमून हर लड़की को रातों रात प्रेम सिखा डालता है। चाहे जैसी जोड़ी हो, पहाड़ पर जाकर अपने को जुगल-जोड़ी समझती है, हाथ में हाथ डाले घूमती है, खाना खाते हुए एक दूसरे के मुंह में कौर डालती है, मोबाइल से तस्वीरें उतारती है और सही समय पर वापस मैदानी इलाके में आकर अपना घर जमाती है।

यह सब हुआ। शिरीष वापस दफ्तर जाने लगा। घर में पुराना सेवक मनमोहन रसोई का कुल काम सम्हालता। नंदा ने पाया इस घर में उसे माँ-बाप के घर से ज़्यादा सुभीता था। जब उसका मूड हो वह आवाज़ लगा देती
'मनमोहन एक कॉफी बना दो।'
'मनमोहन मेरे कपड़े इस्त्री कर दो।' मनमोहन के नाम की गूँज होती रहती घर में।

शिरीष का वह हाल था कि दफ्तर में वह डबल इंजन की सरकार के लिए रफ्तार से काम करता। फिर भी शाम के सात बज जाते। कई बार नंदा उसके लिए मनमोहन के हाथों शाम की चाय दफ्तर भेज देती तब उसे ख्याल आता कि बहुत देर हो गई है। अन्य कमरे खाली हो जाते, उसके विभाग में सब काम करते मिलते। वह कुर्सी से उठता। दफ्तर में चाय नहीं पीता बल्कि चाय के थर्मस सहित घर लौट आता। निढाल काउच में पसर जाता, 'ओफ बड़ा भारी दिन रहा आज। मंत्रीजी को सारे काम आज ही याद आते गए।'

नंदा मनमोहन से कहती, 'थर्मस वाली चाय तुम पी लो। हम लोगों के लिए ताज़ी चाय बना दो। साथ में साब के लिए दो टोस्ट सेंक देना।'
चाय की ट्रे में टोस्ट देख कर शिरीष भड़क जाता। 'तुम्हें पता है नौ घंटे से बंधा हुआ बैठा हूँ। बाथरूम तक नहीं गया। यह क्या मुँह में टोस्ट ठूंसने का वक्त है।'

वह तौलिया और मोबाइल लेकर वॉशरूम में घुस जाता और आधा घंटे बाद तारोताज़ा हो कर बाहर निकलता। शाम की चाय पानी बन जाती। नंदा सहमी हुई आवाज़ लगाती, 'मनमोहन साहब के लिए फिर से चाय बना दो।'
शिरीष कहता, 'नंदा तुम्हें बेसिक समझ नहीं है। रात के नौ बजे कहीं चाय पी जाती है।'

तब तक मनमोहन ट्रे में चमचमाता ग्लास, बर्फ़ की बालटी और सलाद-नमकीन की प्लेट लेकर प्रकट होता। शिरीष का चेहरा खिल जाता। नंदा का बुझ जाता। उसे लगता घर को उसकी उतनी ज़रूरत नहीं है जितनी मनमोहन की। वह साब के इशारे समझता।

शिरीष मूलतः एक बेचैन आत्मा था। वह हमेशा व्यग्रता से घिरा रहता। अगर नंदा किसी बात पर नौकर से बहस में पड़ती, वह किचकिचाता, 'ये बातें मेरी मौजूदगी में मत किया करो। मैं थोड़े से घंटे घर में रहता हूँ। मुझे गति से जीना पसन्द है।'

शिरीष स्टीरियो पर गाना लगा देता। वह करीम से सामिष भोजन का आर्डर दे देता। घर का शाकाहारी खाना फ्रिज का अटाला बढ़ाता।

मनमोहन भाग भागकर सब काम करता। नंदा पहले अपने को अपमानित और ठगा हुआ समझती थी। जल्द ही वह पहचान गई कि ये हरकतें शिरीष को विजेता भाव देती हैं। उसे लगता है वह घर का सही संचालन कर रहा है।

कभी वह प्रेमवश पति से कहती, 'सारा काम अपने कन्धों पर क्यों ले लेते हो। कुछ दूसरों को भी करने दिया करो।'

शिरीष सगर्व बताता, 'मेरे सेक्शन में सत्ताईस लोग मेरे नीचे काम करते हैं पर अक्ल अंदर 27 प्रतिशत भी नहीं है। इसीलिए मुझे हर डिटेल पर ध्यान देना पड़ता है।' नंदा भी पति-दम्भ में फूली नहीं समाती। प्यार मुहब्बत की न्यूनता को वह गर्व की गुरूता में शिफ्ट कर लेती। वह भी मंडली में शान मारती, 'मेरे पति के बिना तो सरकार में पत्ता भी नहीं हिलता।'
सभी के पति उच्चाधिकारी थे। वे नंदा का बचकानपन नज़रअदाज़ कर देतीं।
एक दिन शिरीष शाम को अपने संगीत-कक्ष में बैठा पुराने फिल्मी गाने सुन रहा था उसे एक गाना सुनाई पड़ा।
'मनमोहना बड़े झूठे, हार के हार नहीं मानी।'

गाना अच्छा था पर शिरीष को खटक गया। उसे लगा मनमोहन एक रोमांटिक नाम है। सारा दिन उसकी पत्नी नौकर को मनमोहन पुकारती है। यह सही नहीं है। क्या किया जाये।

उसने नंदा को बुलाया। पास बिठाकर समझाया, 'मुझे लगता है, लड़के का नाम बहुत लम्बा है। सारे दिन तुम्हें पुकारना पड़ता है मनमोहन।'
'क्या करूँ। सब काम उसी से लेने होते हैं,'
ऐसा करें, इसका नाम थोड़ा कट कर देते हैं, सिर्फ मोहन। ठीक है न।'
'पहले उससे पूछ लो।'

'सेवक से क्या पूछना। हमने कह दिया तो हो गया। अरे दफ्तर में मैं एक आदेश से हज़ारों पेड़ कटवा देता हूं। क्या मैं एक नाम को काट कर छोटा नहीं कर सकता। देखो मैं आवाज़ लगाता हूं, 'मोहन, मोहन।'

मोहन कंधे पर पड़े गमछे में हाथ पोंछता हुआ आया, 'साब आपने बुलाया।'

'हाँ ज़रा यह खिड़की बंद कर दो।'
धीरे धीरे इस घर में उसे सब लोग मोहन कहने लगे। मनमोहन को कोई खास फर्क नहीं पड़ा। गाँव में उसे पूरे नाम से बहुत कम लोग बुलाते थे। मोहना, मोनू और मुन्नू कहकर काम चलाते।
नंदा घूमने की शौकीन थी।

अधिकारी परिवारों का क्लब था 'हैलो लेडीज़'। वह उसकी सदस्य बन गई। उसे कविता कहानी लिखने का शौक था जो शादी के बाद मद्धम पड़ गया था। इधर उसने गर्भ धारण किया उधर शिरीष की दफ्तर में व्यस्तता बढ़ी। नंदा वापस अपनी डायरी और लिखने की कॉपी में व्यस्त हो गई।

उसे मुद्रित पत्रिकाओं की ज़्यादा जानकारी नहीं थी। वह कोई कविता या लघुकथा लिखती तो अपनी फेसबुक वॉल पर डाल देती। तत्काल पचास साठ लाइक और कमेंट आ जाते। उसके उत्साह में वृद्धि होती। कुछ कमेंट उसकी डी.पी. पर भी होते। उसने अपने कॉलेज के दिनों की तस्वीर डीपी में लगाई थी। सहेलियों ने बताया था तस्वीर हमेशा पुरानी ही ठीक रहती है।
पहचान का संकट नहीं रहता। इस बीच बढ़ा दस पन्द्रह किलो वज़न भी बेलेंस हो जाता है।
गर्भावस्था में वज़न तेज़ी से बढ़ रहा था। शिथिलता भी। वह स्वर खींचकर आवाज़ लगाती, मोहन ज़रा गीज़र ऑन कर दो।

मोहन ज़रा मेरे कपड़े बाथरूम में रख दो।
मोहन नाश्ते में प्याज़ बेसन का परांठा बनाना। मिर्च बिल्कुल न डालना।'
शिरीष ने एक शाम गौर किया। वह पत्नी की आवाज़ की सांगतिक लय से क्षुब्ध हुआ। क्या सेवक का नाम इतनी कोमलता से पुकारे जाते हैं। उसने कहा, 'मोहन बड़ा गलत नाम है। इससे अच्छा है, हम सेवक को बहादुर बोला करें।'
'रोज़ रोज़ नाम बदलने में क्या तुक है?'

नंदा ने ऐतराज़ किया।
'तुम्हें मोहन नाम अच्छा लगने लगा है क्या?'
'अच्छा क्या, बुरा क्या, नाम तो नाम है। हमारा ही नाम कोई रोज़ बदले तो हमें कैसा लगे।'
'तुम मूर्ख हो। हम मोहन को बहादुर कहा करेंगे। सारे मुल्क में चौकीदार और सेवक बहादुर ही कहलाते हैं।'

नंदा को लगा शिरीष न केवल सनकी होता जा रहा है थोड़ा तानाशाह भी। जो वह कहे वही मानने के लिए सब लोग बाध्य हैं। उसे यह आभास भी हुआ कि शिरीष को मोहन की मौजूदगी नागवार है। कई बार वह उसे बेबात झिड़क देता, 'अपनी जगह पर जाकर बैठो, कमरे में क्या कर रहे हो'।
पति से उलझना बेकार था। वह अपनी बात कहकर फाइल बंद कर देता जैसे। आगे सुनवाई नहीं।
घर में एक बच्चा भी आ गया मगर शिरीष का स्वभाव वैसा ही रहा। थक हार कर नंदा अपनी सब शिकायतें अपने लेखन में ले गई। यहां उसने देखा कच्ची पक्की बातों के लिए बुलंद दरवाज़ा था। यहीं कुछ पत्रिकाओं और अखबारों के सम्पर्क सूत्र मिल गए जहां वह अपनी रचनाएं भेजने लगी। दोस्तियां बढ़ीं। अब 'हेलो लेडीज़' क्लब की सदस्यायें उसे बोर लगने लगीं। लिखने ने साहस भी सिखाया। अपने सच को किरदार का सच बना दो। किरदार की कल्पना अपने जीवन में ले आओ।

अब वह शिरीष की गैर मौजूदगी में बहादुर को मोहन कहने लगी। अपने नए दोस्तों को दोपहर में घर बुलाने लगी और खुद भी कहीं जाती तो साढ़े पांच से पहले घर लौट आती। बेटा प्रखर दो साल का होने जा रहा था। नाम के अनुरूप वह चपल, चंचल और चतुर था। वह सवा साल की उम्र से ही बोलने लगा। वह नंदा को मम्मा कहता, शिरीष को डैडा और बहादुर को मनभादुर। पहले कुछ दिन तो शिरीष ने गौर नहीं किया एक दिन उसके कानों में शब्द पड़ा। मूनभादुर। उसने प्रखर को अपने पास बिठाकर पूछा,
'बेटू आप बहादुर को क्या बोलते हैं?'
'मूनभादुर।' प्रखर ने तपाक से कहा।

'यह नाम तुम कहाँ से सीखे? उसका नाम तो बहादुर है।'
'नईं, मेरी मम्मा उसको मून बोलती।'
शिरीष का माथा घूम गया। रात को 'डबलबैड पर चादर टेढ़ी बिछी है' कहकर वह बहादुर पर नाराज़ हुआ और खड़े खड़े उसे बाहर निकाल दिया।
दफ्तर में ऊँचा पद होने के कारण सेवक मिलने में उसे खास परेशानी कभी नहीं हुई।

बड़े बाबू ने इस बार अपने गांव का एक पहाड़ी लड़का ला दिया। गोरे रंग और सुन्दर नाक नक्श का चौबीस साल का बालम आया तो था ड्राइवर की नौकरी के लिए लेकिन बड़े बाबू ने समझाया, 'अभी ड्राइवर की कोई जगह खाली नहीं है। कुछ महीने बड़े साहब के यहां काम करो। खुश हो गए तो तुम्हारे लायक कोई न कोई जगह निकाल ही लेंगे।'
शिरीष ने पहले ही समझा दिया, 'देखो हमारे घर की रीति है कि हर सेवक को हम बहादुर नाम से बुलाते हैं। तुम इस नए नाम की आदत डाल लो तो अच्छा रहेगा।'

इस बात से बालम को तकलीफ हुई। जब से उसने होश संभाला घर में उसने अपना नाम बालम ही सुना था। दर्जा आठ तक स्कूल में भी उसका नाम बालमसिंह लिखा हुआ था। उसके नाम से साहब को क्या ऐतराज़ हो सकता है। गाँव का भोला भाला नौजवान बालम नामों के अर्थ, गूढ़ अर्थ और पेचों से कतई अनजान था।

मन मार कर उसने काम तो शुरु कर दिया लेकिन उसका चित्त उखड़ा रहा।
जब उसे आवाज़ लगाई जाती, 'बहादुर चाय बनाओ।' वह बैठा रह जाता। उसे यह चेत ही नहीं आता कि यह हुक्म उसके लिए है।
घर में बहादुर की ज़रूरत हर काम के लिए थी। बिस्तर ठीक करने से लेकर रात सबके सिरहाने पानी का थर्मस और नींद की गोली रखने तक।
कई बार शिरीष खीझ कर रसोई में जाता, 'बहादुर जब तुम्हें आवाज़ दें तो बोला करो, 'जी साहब आता हूँ।'

बालम चुपचाप सुनता और सिर झुका लेता। नंदा उसे काम समझाती, आज क्या खाना बनेगा। वह रसोई के काम कर देता। लेकिन जब नंदा कहती, 'बहादुर प्रखर बाबा को बाहर घुमाने ले जाओ।' वह बैठा रह जाता। उसे घर से बाहर निकलना पसंद नहीं था। बच्चे को संभालने में भी उसे दिलचस्पी नहीं थी। वह रसोई के स्टूल पर बैठे हुए पहाड़ी गीत सुनता रहता अपने मोबाइल फोन में।

अब तक जितने सेवक उनके यहां आए सब फुर्तीले थे। वे साहब और मेमसाहब दोनों को खुश रखना जानते थे। नंदा ने एक दिन कहा, 'सुनो मुझे लगता है यह बहादुर कुछ ऊँचा सुनता है। जल्दी उठकर आता नहीं है। ऐसे कैसे काम चलेगा। बेबी से भी कभी नहीं खेलता।'
शिरीष ने कहा, 'दरअसल जो पहली बार पहाड़ से मैदान में आते हैं, उन्हें एडजस्ट करने में काफी परेशानी होती है।

नंदा बोली, 'मन तो उसे खुद ही लगाना पड़ेगा। हम क्या कर सकते हैं।'
शिरीष ने पैंतरा बदला, 'पिछले छह महीनों में हमारे यहां तीन सेवक बदले गए। लोग यही कहते हैं कि गुप्ताजी की पत्नी बहुत तेज़ मिजाज है इसीलिए सेवक नहीं टिकते।'

नंदा ने त्योरी चढ़ाई 'कौन कहता है, मेरे सामने कहे। मैं तो सेवकों से बोलती तक नहीं।'
किसी तरह महीना पूरा हुआ तो शिरीष गुप्ता ने बालम के हाथ पर तनखा रखी। साथ में हिदायत दी, 'तुम नौजवान आदमी हो बहादुर। ज़रा चुस्ती फुर्ती से काम किया करो।'
बालम ने तनखाह ले ली और हाथ जोड़ कर बोला, 'साब आपसे एक बात बोलना है। हमको इदर में बिल्कुल दिल नहीं लगता। आपने नाम बदली कर दिया तो हमको लगता हम बालमसिंह नहीं कोई और हैं। पता नहीं कौन तो भी हो गए हैं। आपको बौत से बहादुर मिल जायेंगे साब। हमको जाने दें।'
'कहीं और नौकरी मिल गई है क्या तुमको?'
साब। हमको जाने दें।'
'कहीं और नौकरी मिल गई है क्या तुमको?'

'नहीं साब। हम अपने घर लौट जायेंगे। हमको अपना छोटा बच्चा का याद आता। हमको इमा याद आती। हमसे कोई गलती हुआ तो माफी दें साब। उदर पहाड़ पर हमारे नाम से चिट्ठी आती, बालमसिंह। इदर आकर हम बहादुर कैसे बनेंगे, बोलो साब। मेमसाब से भी हमारा माफी और नमस्ते बोल देना साब।'

वातायन
vatayan

उल्कापिंड

डॉ. हंसा दीप
व्याख्याता
यूनिवर्सिटी ऑफ टोरंटो

शान रावल नाम था उसका। मेरे विभाग में अभी-अभी आया था। साउथ-एशियन कल्चर की कक्षाओं के लिए नयी नियुक्ति थी। मैं भाषा विभाग से संबद्ध थी। मेरी भाषा भी साउथ-एशियन क्षेत्र से थी इसीलिए हमारा विभाग एक-दूसरे से जुड़ा हुआ था। ऑफ़िस परिसर से लेकर मीटिंग परिसर तक, और यहाँ तक कि हमारे कक्षा-हॉल भी अड़ोसी-पड़ोसी थे।

हम दोनों एक बिन्दु से निकले दो अलग-अलग दिशाओं वाले कोण थे। उसकी जड़ें भी भारत से थीं, मेरी भी। उसकी जड़ों पर पनपा पेड़ अंग्रेज़ था। पत्ते-डालियाँ सब अंग्रेज़ थीं। मेरा फला-फूला, समूचा अस्तित्व निहायत देसी था। उसे अंग्रेज़ी में कल्चर पढ़ाना था और मुझे हिन्दी। एक बड़ा अंतर यह भी था कि वह ऑक्सफ़र्ड ग्रेजुएट 2017 था और मैं विक्रम ग्रैजुएट 1987। तीस साल का वह अंतर सोच में था, बोलने-चालने के ढंग में था, व्यक्तित्व में था, आत्मविश्वास में था। जहाँ नयी तकनीक और नये प्रयोग मुझे सहज नहीं रहने देते, वहीं उसका नूतन ज्ञान, असीम आत्मविश्वास से लबालब था। मेरे उच्चारण पूरी तरह भारतीय थे, उसके पूरी तरह ब्रिटिश। अंग्रेज़-अंग्रेज़ी के साथ दुश्मनी का भाव मेरे भीतर तक कूट-कूट कर भरा हुआ था जो किसी भारतीय अंग्रेज़ को देखकर दोगुना हो जाता था। उसे देखते ही मेरे मन में उथल-पुथल मच जाती। जन्मजात दुश्मनी गुणित होकर अंदर हिलोरें लेने लगती।

यानी कुल मिलाकर हम एक दूसरे के नख-शिख तक विलोम थे। गहन अंतर के साथ भी हम अच्छे सहकर्मियों की तरह दोस्त बनने की कोशिश कर रहे थे। मेरी और उसकी दोस्ती संयोग नहीं, मजबूरी थी। हमारी इमारत में कुछ निर्माण कार्य चल रहा था इसलिए हमें अन्यत्र ऑफिस मुहैया करवाए गए थे। स्थानाभाव के कारण दो लोगों के बीच ऑफ़िस शेयर करना जरूरी हो गया था। हम दोनों की कक्षाओं के अलग-अलग समय को देखते हुए विभाग ने मेरे साथ उसे ऑफ़िस शेयर करने के लिए दिया। समस्या यह थी कि मेरे ऑफ़िस के समय में भी वह "बस जा रहा हूँ," कहकर अपना काम करता रहता। रुकने की वजह भी देता - "मैं घर जाकर क्या करूँ, कोई नहीं है वहाँ। यहाँ कम से कम कुछ परिचित चेहरे तो दिख जाते हैं।"

मैं सहमति में सिर हिला देती, हालांकि मेरी आज़ादी में जो दखल होता उसे मैं स्वीकार नहीं पाती थी। वह समय होता मेरे इत्मीनान से खाना खाने का। सामने वाली कुरसी पर पैर फैलाकर गरम कॉफ़ी की चुस्कियों के साथ खबरें पढ़ने का। उसकी वजह से मैं अपना खाने का डिब्बा तक नहीं खोल पाती कि कहीं खाने की गंध उसे मेरी बदसलूकी न लगे।

वह बात करने के लिए उत्सुक रहता। मैं उसका अंग्रेज़ी बोलने का ढंग देखकर ही चारों खाने चित्त हो जाती। अपनी हिन्दी डिग्री के सामने उसका ऑक्सफ़ोर्ड का तमगा ही बहुत था मुझे डाउन करने के लिए। हालांकि उससे कोई प्रतिस्पर्धा नहीं थी। न नौकरी जाने की, न ही किसी संकट के आने की। "तू तेरे घर, मैं मेरे घर।" उम्र का भी ज़मीन आसमान का फ़र्क था। इस लिहाज़ से हम दोनों को एक दूसरे से कोई लेना-देना नहीं था, सिवाय नमस्ते के आदान-प्रदान के।

वह हमेशा व्यस्त दिखाई देता। इतना व्यस्त कि उसके कंधों पर मुझे दुनिया टिकी दिखती। सामने रखा विश्व का ग्लोब गोल-गोल घूमता उसके कीमती काले ब्लेज़र की डिज़ायनिंग के साथ। कक्षा में भी दौड़ता हुआ पहुँचता। मैं इत्मीनान से अपना काम करती, अपनी चाय के लिए समय निकाल लेती। कुछ चुटुर-पुटुर खाती भी रहती। उसका सूट-टाई वाला सशक्त व्यक्तित्व, गोरा मुखमंडल, काले घने बाल मेरे पुरानी शैली के कपड़े व सफ़ेद होते बालों से रोज टकराते। एक युवा, वाकपटु, आकर्षक नवयुवक जिसने अंग्रेज़ी भी कहाँ से पढ़ी, अँग्रेज़ों के घर से! उसके छात्र उसे कितना पसंद करते होंगे, यह मैं अनुमान भर लगा पाती। वह मुझे सम्मान देता लेकिन मैं उसे अपमान की तरह लेती। यह मेरा और उसका टकराव नहीं था। यह तो हिन्दी और अंग्रेज़ी का टकराव था। अपने देश के बिलियन लोग न रोक पाए इस टकराव को तो भला मैं अकेली कैसे रोकती।

वह कहता – "मेरी ब्रिटिश अंग्रेज़ी कैनेडियन छात्रों के लिए मुश्किल है।"

मैं कहना चाहती - "नैचुरली, आधी बार तो बेचारे समझ ही नहीं पाते होंगे कि क्या कहा गया है।" नहीं बता पाती उसे कि आपकी कही बात को समझना मुश्किल है। उससे बात करने में मैं भी उतनी तेज़ी से बोलने लग जाती तो जल्दी में, भूले-भटके, हिन्दी के शब्द बोल देती। वह मेरा चेहरा ताकता रह जाता। उसे अंग्रेज़ी में दोहराते हुए मैं अपने आपको ज़मीन में गढ़ा पाती। मेरी हिंदी मदद करने लगती। "अ आ इ ई" मेरे सामने आकर दिलासा देते कि हमें सीखना भी कोई आसान काम नहीं है। हम तो कुल मिलाकर चवालीस हैं, इनके पास तो बस छब्बीस हैं। मैं सोचती, सचमुच मुश्किल तो मेरी भाषा हुई, उसकी तो दुनिया की सबसे आसान भाषा है। दुनिया का हर आदमी किसी न किसी रूप में अंग्रेज़ी सीख ही लेता है, फिर चाहे फ़ोन पर हो या किसी भी तकनीकी डिवाइस पर। इतनी आसानी से हिंदी सीख कर देखे! यह सब मैं मन ही मन दोहराती क्योंकि इन सब चीजों के बारे में उससे बहस करने के लिए मेरे पास पर्याप्त शब्द नहीं होते। शब्द होते तो भी उच्चारण नहीं होते। जैसे-तैसे उच्चारण कर भी लेती तो उसके कान समझने से इनकार कर देते। इन सब झमेलों से बचने के लिए मैं अपने आपको चुप ही रखती। वैसे भी अपने हिंदी प्रेम ने मुझे ज़लील करने में कोई कसर न छोड़ी थी। घूम-फिर कर दिमाग में वे पल चक्कर लगाते जब हिंदी वाले ही मेरे हिंदी प्रेम की बखिया उधेड़ने में पीछे न रहते। हिंदीदाँ मुझसे पूछते – "डू यू वर्क?"

"आय डू,"

बस इसी एक वाक्य में मेरा गज़ब का "कांफिडेंस" दिखता। यह मुझे हमेशा गिरजाघर के पादरी की याद दिलाता जो सामने खड़े दुल्हा-दुल्हन को पति-पत्नी घोषित करने से पहले यही सुनना चाहता- "आय डू।" नहीं बोलोगे तो कुँवारे ही रह जाओगे। मुझे लगता कि मैं जल्दी से "आय डू" नहीं बोली तो "हाउसवाइफ़" बना दी जाऊँगी। हज़बैंड की वाइफ़ बनना तो मैं स्वीकार कर चुकी पर हाउस की वाइफ़ बनना बिल्कुल स्वीकार नहीं।

"कहाँ काम करती हैं आप?" प्रश्न हिंदी में बदल जाता। एक अंग्रेज़ी के प्रश्न से टेस्ट करना होता कि सामने वाला अपनी बराबरी का है या नहीं।

"जी मैं यूनिवर्सिटी में पढ़ाती हूँ।"

"अरे वाह, क्या पढ़ाती हैं आप?"

उनके चेहरे का जोश एकाएक मुझे गौरवान्वित कर देता। मैं गर्व से कहती – “हिंदी।”
“ओह।” एक ठंडी–सी ओह निकलती। यूनिवर्सिटी सुनकर उन्हें जो जोश आता वह हिंदी सुनकर फुस्स हो जाता।

मैं अपने आत्मसम्मान की रक्षा का भरपूर प्रयास करती - “हिंदी, अंग्रेज़ी में पढ़ाती हूँ।” इस आशा में कि उनका मुखोभाव कुछ बदलेगा, कोई बदलाव नहीं आता उनके चेहरे पर। कुछ कहा जाता, मन–मन में। शायद कुछ ऐसे – “अ आ तो पढ़ाती है, कौन सा तीर मार लेती है।”
मैं अनकहा समझ लेती। पसीने से मेरे छक्के छूटने लगते। ये धोनी या सचिन के छक्के नहीं जो लगते हैं तो लोग तालियाँ बजाते हैं। ये तो छूटने वाले छक्के हैं जो लोगों के चेहरे पढ़कर छूटते हैं। एयरकंडीशंड कमरों में पसीने के साथ छूटते हैं। ये पसीने की बूँदें मैं हिंदी के उस अथाह समन्दर को समर्पित कर देती जो मेरी जीवन–नौका को पार लगाता है। मैं उन्हें बता नहीं पाती कि हिंदी मेरे लिए क्या है! मेरा पैशन है, मेरा प्रोफ़ेशन है, मेरा जुनून है, मेरा सुकून है! इतना सब कुछ होते हुए भी हर जगह मैं नीचा ही देखती रहती।

और कोई होता तो मैं कभी ऐसा महसूस नहीं करती पर जब भी अंग्रेज़ी से टक्कर होती तो यही हाल होता। ऐसा भी नहीं कि अंग्रेज़ी मेरे लिए काला अक्षर भैंस बराबर है। अपने बच्चों को पढ़ायी है। अब चाहे वे मुझसे आगे निकल गए हों परंतु नींव तो मैंने ही डाली थी। तो फिर ऐसा क्या था जो इस नवयुवक को देखते ही मुझे कचोटता था। शायद उसकी ऑक्सफ़ोर्ड की डिग्री मुझे चुभती थी। इस बंदे का अंग्रेज़ी अदब व शब्दों को उच्चारण करने का तरीका मुझे हमेशा चिढ़ाते। कुल मिलाकर इस अंग्रेज़ शख्सियत का पूरा का पूरा “कॉम्बो” मेरी आँख की किरकिरी बन चुका था।

मैं और मेरा आत्मविश्वास रोज़ चकनाचूर होते।
वह नया था। मेरे अनुभव के सामने कल का छोकरा था। पढ़ाई खत्म करने के बाद यह उसकी पहली नौकरी थी। मैं सालों से पढ़ा रही थी। उसे जितना साउथ-एशियन कल्चर के बारे में किताबी अंग्रेजी ज्ञान था उससे कहीं अधिक मुझे व्यावहारिक ज्ञान था। पर इस बिंदु पर वह सब मेरे लिए नगण्य था। कुछ खास था तो वह था उसका अंग्रेज़ी का ज्ञान। मेरे उस ज्ञान पर उसके शब्द जो अंग्रेज़ी की नज़ाकत के साथ पेश आते तो मुझे लगता कि वह एक बड़ा विद्वान है और मैं इस सदी की सबसे बड़ी मूर्ख। ऐसे अंग्रेजों वाले उच्चारण थे कि समझने के लिए मुझे अपने कानों को सतर्क होने की चेतावनी देनी पड़ती। बावजूद इसके आधा सिर के ऊपर से निकल जाता। ऐसा लगता जैसे कानों ने इस काम को करने से इनकार करके दिमाग को सौंप दिया हो - “जो सुन नहीं पाए, उसे खंगालो और बुद्धि से पता करो कि क्या कहा होगा।” न जाने आखिरी अक्षर मुझे सुनायी नहीं देते या फिर वह उच्चारता ही नहीं था। “गोइंग” का “गो” तो सुनायी देता बाकी सब हवा हो जाता। “कलर” का “कल” सुन पाती पीछे का “र” उड़ जाता।

मैंने कई बार उसकी तरह उच्चारण करने का अभ्यास किया। आखिरी के अक्षर गायब करने की पूरी कोशिश की परंतु लाख चाहने पर भी आदत बदल न पाती। अंग्रेज़ी के हर शब्द का, हर अक्षर का उच्चारण शुरू से आखिरी तक बराबर होता। अपने देश में तो न जाने कितनी भाषाओं की आपस में टक्कर होती है पर अंग्रेज़ी जैसी हिंदी की दुश्मन है वैसी शायद किसी और भाषा की नहीं होगी। उसका बोलने का अंदाज़ देखकर गुलामी के कई वर्ष सामने आ जाते और वैमनस्य की गाँठों को मज़बूत करते। भाषाओं का टकराव असल में उस सोच से टकराव था जो अंग्रेज़ी राज से मिली

थी। हम दोनों की तनख्वाह में अंतर था, सीनियर होने के सारे फ़ायदे मेरे पास थे। सब कुछ था, अगर कुछ नहीं था तो वह थी ऑक्सफ़ोर्ड की डिग्री।

इसी बोझिलता को पीठ पर लादे तीन महीने निकल गए। परीक्षाएँ शुरू होने वाली थीं। हम सब व्यस्त थे। एक दिन वह उदास था। जब कारण पूछा तो उसने बताया कि कल वह कुछ छात्रों के साथ क्लब गया था। सोचा परीक्षा के पहले उन्हें थोड़ा घुमा लाएगा।
छात्रों के साथ क्लब? मैं हैरान थी। छात्रों के साथ क्लब कौन जाता है! लेकिन कुछ कह न पायी। नया ज़माना है। मुझे शायद नहीं पता होगा। इनके "सिस्टम" से अनभिज्ञता दर्शा कर मैं बेवकूफ़ बनना नहीं चाहती थी।

"क्लब ही नहीं, मिस जिया, खूब पी भी ली थी।"
"छात्रों के साथ आपने शराब पी!" अब मैं अपनी अल्पबुद्धि को बाहर आने से रोक न पायी।
"क्लब में कोई कोक पीने तो जाता नहीं न!"
"हाँ, सच कहते हो। मैं भी कितनी "सिली" हूँ!" आधुनिकता का जामा न पहन पाना, यूँ ज़लील कर रहा था मुझे।

"वे बहुत आग्रह कर रहे थे। यहाँ मेरा कोई है भी नहीं, सब यूके में हैं। अकेलापन महसूस करता हूँ। मैंने सोचा थोड़ा "चेंज" अच्छा है।"
मैं उसका मुँह देख रही थी। सहमति में सिर भी हिलाती जा रही थी।
"और शराब के नशे में किसी लड़की से कुछ कह बैठा। उसका मित्र साथ था, वह गुस्सा हो गया।"

मैं तब भी इस बात की गंभीरता को समझ नहीं पा रही थी। सामान्य बातचीत के तौर पर ले रही थी उसे। वह कहने लगा – "मुझे आशंका है कि मामला कहीं तूल न पकड़ ले।"
इतना सुनने के बाद तो मैं पूरी तरह से आधुनिक होने के रंग में थी - "अरे ये तो सामान्य बातें हैं, ऐसा कुछ नहीं होगा इत्मीनान रखें।" गले से नीचे न उतरने के बावजूद मैं अब बदले हुए चोले में थी। अपनी छिछली सोच को खूँटी पर टाँग चुकी थी।

दो दिन बीत गए वह दिखा नहीं। तीसरे दिन जब आया तो घबराया हुआ था। पूछने पर बताया कि – "उस लड़के ने शिकायत कर दी और आज विभागाध्यक्ष ने बुलाया था। मैंने अपना पक्ष रखा लेकिन मुझे नहीं लगता कि मैं उन्हें यकीन दिला पाया।"
मैं फिर भी डगमग नहीं हुई। उससे कहा – "अरे ऐसे ही आपसे जानने के लिए बुलाया होगा कि क्या हुआ था। आप परेशान न हों।"

अगले दिन उसने ऑफिस में कदम रखा। आँखों की गीली पोरों के साथ मुझे बताया कि उसके खिलाफ विभागीय जाँच के आदेश दे दिए गए। मेरा माथा ठनका। इतने दिनों से की जा रही उपेक्षा का ढोंग खत्म होकर असलियत सामने आने लगी। फिर भी कहीं था मन में - "कुछ नहीं होगा। बुद्धिजीवी है, मेरी तरह कमज़ोर नहीं है। बचा लेगा अपने आपको।"

अब मैं महसूस करने लगी थी कि अन्य प्रोफ़ेसर हमारे ऑफ़िस की ओर घूरते हुए गुज़रते हैं। सिक्योरिटी-गार्ड भी हमारे दरवाजोंजों पर नज़र रखता है। धीरे-धीरे पता लगा कि छात्रों में यह मुद्दा तूल पकड़ने लगा है। गर्मी भभकने लगी है जिसकी आँच परिसर में दिखाई देती। जगह-जगह

छात्रों के झुंड पोस्टर लेकर घूम रहे होते। विभाग ने उसकी कक्षाएँ लेना बंद करवा दीं। आंदोलन जोर पकड़ने लगा। सुगबुगाहट हर ओर थी। इसी के चलते एक दिन, एक छात्र गुस्से में आकर उसे चाँटा मार कर चला गया। वह तब से गायब था। कहीं अता-पता नहीं था उसका।

परीक्षाओं के ठीक पहले होने वाली यह उथल-पुथल किसी के लिये भी हितकर नहीं थी। न पढ़ने वालों के लिए, न पढ़ाने वालों के लिए। मैं यह कल्पना कर रही थी कि कैसे छात्र ने हिम्मत करके उसके गाल को लाल किया होगा। उसके बाद कैसे उसने घबराकर अपना गाल सहलाते हुए अपने-आपको संभाला होगा और तेज़ी से वहाँ से चला गया होगा। यह सब सोचते हुए मेरा दाहिना हाथ मेरे गाल को सहलाने लगा। शायद चाँटा मैंने भी मारा था, खुद को, अपने डगमगाते आत्मविश्वास को, अपनी सोच को जो निरंतर मुझे नीचा दिखाती रही थी।

वह आया और चला गया। ऐसा लगा जैसे एक उल्कापिंड गिरा, पल भर की रोशनी दी और उसका अस्तित्व खत्म हो गया। मेरा अपना आकाश अब मुझे कुछ ज़्यादा ही विश्वस्त लग रहा था।

अमृतवाणी

आस्था देव
लंदन, ब्रिटेन
आई टी वृत्तिक, और
प्रस्तोता

अमूमन मेरी रात अक्सर तब शुरू होती है, जब आस पास सब सो चुके होते हैं। तब मैं अपनी कलम को थाम एक नई दुनिया का सृजन कर पाती हूँ। उकेरती हूँ, कुछ वाक्य, जो मेरे हिसाब से जल्द ही कागज़ से उतर कर मेरी जिंदगी का सच बन जाने वाले हैं। इन क्षणों में मैं अकसर लिखती हूँ कुछ कविताएं, कुछ कहानियां और कुछ खत, मेरे उस अजन्मे बच्चे के नाम, जिसे मैंने देखा नहीं, पर देखने की न केवल इच्छा रखती हूँ, बल्कि आस्था भी!

तो 23 साल की उम्र कहने को बहुत कम नहीं होती, सरकारी नियमों से देखें तो शादी की उम्र से 5 साल आगे ही है, पर उम्र जो होती है न, वो बरसों में नहीं गिनी जानी चाहिए, उसे गिना चाहिए अनुभवों में, और हर बुरे अनुभव के लिए, उम्र में कम से कम 5 गुना इज़ाफ़ा होना चाहिए।

जिसे जीवन के 22 साल किताबें पढ़ने और तमगे बटोरने के लिए वाहवाही मिली हो, जीवन को पढ़ लेने की इच्छा उसमें न के बराबर हो जाती है; मेरे साथ भी शायद ऐसा ही था। लम्बे समय तक अपनी सौन्दर्य को लेकर भी मुझमें कोई खास सजगता नहीं थी; कपड़े साफ़ और इस्त्री किये होने चाहिए थे, बस। उन पर बहुत ज़्यादा ऊर्जा खर्च करने में विश्वास नहीं रखती थी मैं। हां, कोशिश बस इतनी रही कि अगर मुझे वो सारे मौके मिल रहे हैं जो एक पुरुष को इस समाज में मिलते हैं, तो कहीं इस रूप-रंग के चक्कर में फँस मैं उन अवसरों को खो न दूँ। अपने आप को एक उदाहरण के रूप में स्थापित करना था मुझे, खुद के लिए और उन लोगों के लिए भी जो मेरे माता पिता पर फब्तियां कसते रहे थे कि उन्होंने लड़की की परवरिश अच्छी नहीं की। आज मेरे माता पिता को गर्व था मेरी छोटी-बड़ी उपलब्धियों पर, मेरे लिए अब इतना बहुत था।

समय कहते हैं न, कभी एक सा नहीं रहता, इसे मेरी ख़ुशक़िस्मती ही कहो कि मेरे लिए 22-23

साल वो एक सा ही रहा, सकारात्मक ऊर्जा से भरपूर, आशा से ओतप्रोत, अवसरों से परिपूर्ण, मुझे आगे बढ़ाने वाला और मेरी प्रतिभा को चमकाने वाला। तो जब मुझे लगा कि अब मैं उन अपेक्षाओं पर खरी उतरी हूँ, जो मेरा परिवार, मेरा समाज मुझ से करता है, तो मैं क्या देखती हूँ कि हर कंप्यूटर गेम की तरह हम प्रवेश कर चुके थे अगले स्तर पर और इस बार सारा क्रीड़ा क्षेत्र ही बदल चुका था।

इस बार मेरे उन गुणों को सराहा जा रहा था, जिन्हें मैंने अर्जित नहीं किया था, वे अनुवांशिक थे, प्रकृति प्रदत् - मेरा रंग, रूप, शारीरिक सौष्ठव! यही नहीं, उनमें से कुछ चीज़ों में मीनमेख भी निकाली जा रही थी, मेरी लम्बाई, मेरा दुबला होना, पर मिला-जुला कर, मुझे अच्छा ही कहा जा रहा था। तो ये जो उपलब्धि थी, मुफ्त का लड्डू था, खा कर दुखी होने का सवाल कहाँ उठता है। इन नए मापदंडों पर खरी उतर कर मैं भी खुश थी, पर जिसने कंप्यूटर को इतना जाना हो वो कैसे ये भूल सकती है, नए खेल की नयी चुनौतियाँ मुंह बाये खड़ी होंगी, तो पिछला जो भी सीखा सिखाया, पढ़ा, पढ़ाया था, वो इस खेल में बेमानी था, अब परखा जा रहा था, घर सँभालने की कुशलता को, खाने बनाने की दक्षता को, त्याग करने की क्षमता को, सहने की शक्ति को और अपने अस्तित्व को नकार देने तक की दृढ़ता को। जिस स्मृति से बरसों प्रगाढ़ मित्रता थी, वो क्या मुझे खुद को विस्मृत करने देती? आज सोचती हूँ तो लगता है, क्या मूढ़ता को भावुकता का पर्यायवाची कह देना उचित न होगा? कदापि नहीं, क्योंकि मूढ़ता में अज्ञान होता है, और भावुकता में ज्ञान!

माँ अक्सर कहती रहती है, “कुछ परेशानी हो तो कह दिया करो न, अंदर कुछ मत रखा करो, तुम्हारा स्वभाव वैसा नहीं है, अंदर रखोगी तो तबीयत ख़राब होगी!” मैं भी हँस कर कह देती हूँ, “अरे, ज़्यादा सोचने से मेरी तबीयत ख़राब हो जाती है, मैं इतना नहीं सोच सकती। माँ, तुम भी थोड़ा कम सोचा करो।”

जिस माँ ने जीवन के 22 साल इस जद्दोजहद में बिताये कि कैसे उसकी बेटी समाज में, परिवार में, अपनी बुद्धि और ज्ञान से एक उदाहरण बने, उसे कैसे कहूँ कि मेरी ये विलक्षणता जिस पर तुम्हें गर्व रहा है, उसे अब मिट्टी के धेले भर भी आदर प्राप्त नहीं। ये जो तुम मुझे हमेशा भीड़ से अलग रखना चाहती थी, मैं अब उस भीड़ में गुम हो जाना चाहती हूँ ताकि कोई मुझ पर उँगली न उठा पाए, क्योंकि वो उँगली कुछ क्षण में तुम्हारी ओर घूम जाती है और जीवन में चाहे हर चीज़ से मेरी आस्था डगमगा जाये पर तुम्हारी परवरिश और उसमें लगे तुम्हारे न जाने कितने बलिदानों से मेरी आस्था कभी नहीं हट सकती। दुनिया में मैं कितनी भी साधारण हो जाऊँ, तुम हमेशा एक असाधारण माँ रहोगी मेरी दृष्टि में और शायद इसलिए ये माँ बनना कभी आसान नहीं होने वाला मेरे लिए।

इस बार ये यात्रा और कठिन है, पिछले दो बार जब मैं मुंह के बल गिरी थी तो मैंने कभी बंद कभी खुली आँखों से स्वार्थ का नंगा नाच देखा था, मैंने देखा था अहंकार की वीभत्सता को, मुस्कराते आत्मीय चेहरों के पीछे की कुरूप मानसिकता को, जो दोषारोपण करना चाहती है पर त्याग नहीं करती, सेवा नहीं करती और प्रेम, उसका तो सवाल ही नहीं उठता। हाँ, उन क्षणों की विवशता ने, हमारे पति पत्नी के रिश्ते को सतही रहने नहीं दिया। शादी के शुरुआती शारीरिक आकर्षण ने अब मोह का गहरा रंग ले लिया है, क्योंकि हम अब एक यात्रा के पथिक हैं। उन्हें भी पता है कि जिस

तरह बस कुछ समय में हम एक नई ख़ुशी को साझा करेंगे, गुज़रे कल की गलतियों में भी हमारी पूरी साझेदारी थी। चाहे, शब्दों में वो इसे कहना नहीं चाहते, ना ही, आरोप-प्रत्यारोप कर वो अन्य रिश्तों की मर्यादा को भंग करना चाहते पर मोह बहुत गहरा है, तभी तो, उनके लिए मेरा होना, बहुत मायने रखता है!

सालों बाद जब हमारे बच्चे बड़े होंगे, तो मैं बताऊंगी उन्हें कि उनके पिता ने उनकी माँ को चुना था, जब चुनने की बारी आई थी। आज भी वो दृश्य आँखों के आगे आता है तो सहम जाती हूँ मैं, कैसे दूसरी बार हॉस्पिटल आना पड़ गया था उस नाजुक गर्भावस्था में, मेरा मन एक छोटे से मानसिक दवाब से बिखर गया था, तबीयत इतनी बिगड़ गयी कि हॉस्पिटल में मेरी सांसें भी गिरने लगीं। तब कहा था उन्होंने, "मुझे बस मेरी पत्नी चाहिए, डॉक्टर!"

मोह की वो पराकाष्ठा थी, इस बार जब से हमने ये यात्रा प्रारंभ की एक बार फिर, वो मुझे वैसे ही सँभालते हैं जैसे मैं कोई नाजुक चीज़ हूँ, जिसे वो बचा लेना चाहते हैं, हर हाल में, हर नकारात्मकता से। एक बात तो मुझे पता चल ही गई है कि पिता वो बड़े कमाल के बनने वाले हैं! इन नौ महीनों के दौरान, जिस रफ़्तार से उन्होंने हर बार गाड़ी चलायी है, वो उतनी ही धीमी थी, जितने धीमे ये इंतज़ार के क्षण गुज़रे थे, यहाँ तक कि पैदल चलने वाला भी हमसे आगे निकल जाता। ये बस इसलिए कि तेज़ रफ़्तार या किसी झटके से मुझे या बच्चे को परेशानी न हो जाये।
दूसरे गर्भपात से 2 साल 2 महीने 17 दिन आगे खड़ी थी मैं आज। आज दोपहर से थोड़ी बेचैनी सी लग रही है, बच्चे ने घूमना बहुत कम कर दिया है, गर्भावस्था के अंतिम पड़ाव पर ये आम बात है, पर आज थोड़ा अलग सा है। माँ से कहे बिना रहा नहीं जा रहा!
"माँ, सुनती हो, थोड़ी बेचैनी सी है, आज दोपहर से बच्चा बहुत शांत है,"
"दिन तो आ ही गया है, चलो हॉस्पिटल जाते हैं।" माँ बोली।

"इसलिए तुम्हें कुछ नहीं कहती, तुम इतना हड़बड़ा जाती हो, अभी शाम हुई है, खाना खा कर देखती हूँ।"
"बेटा, अस्पताल जाते हैं, कुछ नहीं हुआ तो, खाने के वक़्त तक लौट आएंगे! पर अभी चलना ही होगा।"

माँ शायद इन आखिरी क्षणों में वो कोई भी लापरवाही नहीं करना चाहती। उन्होंने कहा, "माँ, कह रहीं हैं तो चलो, कुछ नहीं तो हवा खा कर आएंगे।" फिर ऐसा लगा मानों समय गुज़र नहीं रहा, उड़ रहा है। जब तक अस्पताल पहुंची, हल्का दर्द शुरू हो गया। डाक्टर ने जाँच के बाद कहा, "समय हो गया है, प्रसूति कक्ष में जाना होगा, 1 घंटे में,"

माँ ने आकर सिर पर हाथ फिराया पर ये स्पर्श बहुत ही अलग था, इसमें वो अनुशासन की दृढ़ता नहीं थी, "बेटा, एक बात कहूँ याद रखना, ईश्वर भी चाहें तो बच्चे को दुनिया में नहीं ला सकते। यहाँ तक कि, उन्हें खुद भी माँ के माध्यम से ही दुनिया में आना पड़ा है, इसलिए एक माँ जो चाहे वो कर सकती है, दर्द में घबराना नहीं।" हमेशा से अनुशासन के कठोर आवरण में छुपी मेरी उस नाज़ुक सी माँ को पहली बार देखा था मैंने!

प्रसूति कक्ष में उपस्थित ज्यादातर लोग रोज़ाना इस दर्द को देखते हैं, उनके लिए ये सामान्य है पर हमारे लिए यह पहली बार है। मुझे संदेह होने लगा कि डॉक्टर और नर्सों को मेरे दर्द की तीव्रता का

अहसास ही नहीं है पर कुछ क्षणों बाद वो लग गए अपने कार्य में। मेरे पैर टाँग दिए गए, सब कुछ अपनी जगह पर है। सामने डॉक्टर, बाजू में खड़े पति, आसपास खड़ी नर्सें, बस एक मैं ही हूँ, जिसका एक जगह पर होना मुश्किल है। हर सेकंड गुज़ारना मेरे लिए मानों पहाड़ चढ़ने जैसा है। शरीर के बारे में, कटु अनुभवों के बारे में, अपनी नग्नता के बारे में, किसी के बारे में सोच समझ नहीं पा रही थी, दर्द चरम सीमा पर था। डाक्टर ने हमसे बात शुरू कर दी, शायद दर्द की तीव्रता और स्थिति की गंभीरता से ध्यान हटाना उसका उद्देश्य है, मैं कुछ बोलने की स्थिति में नहीं हूँ,फिर भी अनमने ढंग से सुन रही हूँ।

"बच्चे का क्या नाम सोचा है?" डॉक्टर ने पूछा।
पति ने तपाक से उत्तर दिया, "लड़की हुई तो अश्विता!"
"और लड़का हुआ तो?" डॉक्टर ने पूछा।
"सोचा नहीं है, लड़की ही होगी!" पिता का जवाब तैयार था।
दर्द तेज़ है पर गुस्सा भी आ रहा था।
"लड़का हुआ तो कहेंगे अनाम!" डॉक्टर ने हंसकर कहा।

मैं बोल पड़ी, "मैंने सोचा है लड़के का नाम भी!" दर्द की ऐसी की तैसी, मेरा बच्चा अनाम, मेरे अंदर की माँ ऐसा सह नहीं सकती। दर्द और तेज़ हो गया, जी करता है रोऊँ, चिल्लाऊं, पर उससे कुछ फ़ायदा नहीं होगा। ये प्राणवायु ही जीवन का ईंधन है, इसलिए शायद इसी पर ध्यान देना मन को शांत करेगा। जीवन की हर परीक्षा की तरह, मातृत्व की इस परीक्षा के बारे में भी मैंने बहुत पढ़ा था, पर सोचा न था, कि प्रसव के बारे में पढ़ना और इस दर्द को झेलना दो अलग बातें हैं।

"एक आखिरी बार कोशिश करो!" डॉक्टर ने कहा। वो क्षण, वो छोटा कमरा, उसमें लगी घड़ी, आसपास खड़ी नर्सें, औज़ार, सामने की खिड़की, डॉक्टर, और पति सब धूमिल हो गए हैं। उसके रोने ने सारे कमरे को एक अद्वितीय ख़ुशी के आवरण से ढक लिया है, कुछ और दिखाई नहीं दे रहा, बस उसका रोना अमृत सा कानों में घुल रहा है।
"बधाई हो, अश्विता आई है," डॉक्टर ने कहा!

फिर कानों ने वो सुना जो जीवन के अंतिम पलों तक कानों में गूंजेगा। "हे ईश्वर, मेरे अंतिम क्षणों में, मुझे राम नाम नहीं सुनना, जब मृत्यु मेरे दरवाज़े आये, इस क्षण को मेरी स्मृति में जीवंत कर देना। मुझे इस पिता की इस हँसी को हमारी बेटी के रुदन के साथ सुनना है! इसमें एक पिता की 2 साल 2 महीने 18 दिन की वो प्रतीक्षा है, जिसका दर्द कभी आंसू बन कर नहीं छलका, और पुत्री का नए संसार में आगमन का वो संगीत है, जिसमें अचरज है! अगर अमृतवाणी कुछ है तो यही है ईश्वर...यही है!"

एशिया महाद्वीप में क़िस्सागोई की दास्तानगोई
कुछ यादें... कुछ हकीकतें

नासिरा शर्मा

साहित्य अकादमी और व्यास सम्मान से पुरस्कृत लेखिका

जब पाकिस्तान के शहर पेशावर पहुंची तो किसी ने पता बताते हुए 'क़िस्साख्वानी बाज़ार का नाम लिया तो चौंक पड़ी। उस बाज़ार को जो पहले कभी सराय था, उसे देखने की ललक जाग उठी। यह बात होगी अस्सी दहाई के अंत की और जब मैंने एक लेख 'मुअनजोदड़ो के खंडहरों में क़िस्सागोई की लम्बी रातें' लिखा तो दो दहाई बीत चुके थे। मगर जो लगाव क़िस्सागोई से रहा उसने लेख की शुरुआत कुछ इस तरह से करवाई थी।

फूलों का शहर पेशावर और उस में किस्साख्वानी बाज़ार, बीच में खड़ी मैं और चारों तरफ दुकानें ही दुकानें अहसास जागता है जैसे दुकानें नहीं बल्कि घोड़ों के अस्तबल हैं। पीली रौशनी में सौदागरों के चेहरे और शानदार दाढ़ियाँ। आखों में नींद का खुमार और चोरी के डर से रतजगा। कहानी सुनाती एक आवाज़, भारी, रहस्यमयी और नाटकीय। मुसाफिरख़ाने में गूंजती पाटदार आवाज़, घोड़ों की हिनहिनाहट का मद्धिम संगीत, झींगुरों के सुरों के साथ...

“एक बादशाह था। उसकी इकलौती बेटी कमलनयन शहर की सबसे हसीन और नेक लड़की थी। वह शहर के एक फ़कीर पर आशिक़ थी जिसके बदन पर चिथड़े झूलते थे। जब वह हंसता और खिड़की के सामने हाथ फैलाता तो शहज़ादी को महसूस होता कि उसकी आँखों के सामने एक साथ कई चांद चमक उठे हो... ।”

अचानक आवाज़ की गूंज गायब हो जाती है और मैं अपने को तारीख़ी गलियारों के बाहर एक गहमागहमी से भरे बाज़ार में पाती हूँ। सामान दुकानों में उबल रहे हैं, और ग्राहको की रेलपेल है। तेज़ गरम सूरज, चांद की ठंडक भरी चांदनी की जगह, चमकीली धूप के साथ किरणें बिखेर रहा है।

जी, तो आज की कहानी का अतीत, दरअसल लम्बी कहानियाँ होती थी जिस में दो तीन किरदारों और किसी एक अहसास की अन्तर्यात्रा किसी चरित्र द्वारा नहीं की जाती थी बल्कि ढ़ेरों किरदार होते थे और एक प्रेमकथा होती थी। दास्तान में चार चीज़ों का होना ज़रूरी समझा जाता था। वह इसलिए कि सुनने वाला ताजिर छोड़े बेच कर सो न सके बल्कि वह आँखें खोले दास्तानगो के बयान किए गए दृश्यों में इतना डूब जाए कि वह उन दृश्यों को अपने सामने गुज़रता देखे।

जाने कब से, मेरे ख्याल से तब से, जब से इन्सानों में दूर-दराज़ का सफर तय कर अपना स्थानीय माल बेचने और अच्छा कमाने की ललक जागी थी। रास्ता कभी बीहड़ तो कभी घने जंगलों से मौसमों की मार खाता, दिनभर चल कर किसी चौराहे या सराय पर रात बिताने और जानवरों की थकन व खाना-पीना देकर सुस्ताने पर मजबूर होता था।
रात भर चोर-डाकुओं से अपने जान-माल को बचाने के लिए जागना पड़ता था और यह जागना ही दरअसल क़िस्सागोई की बुनयादी जरूरत थी जो ज़रूरत के कारण वजूद में आई जिसकी ज़मीन बताई जाती है कि लोक-कथाओं पर आधारित है। बहुत बाद में जब वाचक परम्परा धीरे-धीरे

समाप्त होने लगी तो लिखित रूप से क़िस्सागोई का अन्दाज़ 'मसनवी' में ढलने लगा, जिसे काव्यखंड कहा गया। इस में भी वही शर्तें थीं। कोई इश्क़िया बयान, किसी को खोजने या पाने की तड़प इत्यादि। यहाँ पर मसनवी 'ज़हरे इश्क़' को आपके सामने रखती हूँ।

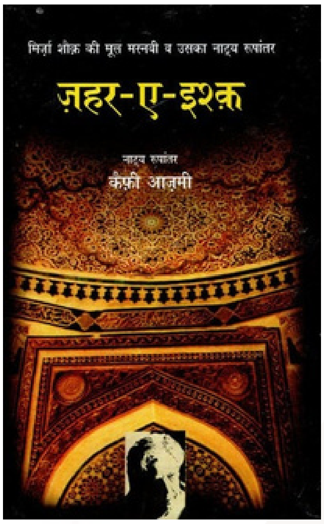

"पुरानी पैट्रोमैक्स पलंग से कुछ दूरी पर पेड़ की डाल से टंगी थी। मच्छरों से बचने के लिए हाथ का पंखा लिए एक लड़का खड़ा था। क़िस्सागो कहता है, "ज़हरे इश्क़ तहरीर को जिसे नवाब मिर्ज़ा शौख़ लखनवी ने क़लमबंद किया था।'' इतना कह कर दास्तानगो दो ज़ानूं बैठा और मसनवी का आरंभ हम्द (ख़ुदा की प्रशंसा) को तरन्नुम से पढ़ा... लिख क़लम पहले हम्दे रब्बे वुदूद कि हर एक जाँ पै है, वही मौजूद! फिर नात पढ़ी...

ज़ात अहमद की कोई क्या जाने या अली जाने या ख़ुदा जाने
अब शुरू होती है ज़हरे इश्क़...
एक क़िस्सा अजीब लिखता हूँ, दास्ताने ग़रीब लिखता हूँ जिस मोहल्ले में था हमारा घर, वहीं रहता था एक सौदागर मर्द अशराफ़ साहेबे दौलत-ताजिरो में कमाल की इज़्ज़त

एक दुख्तार थी उसकी माहजबीं
शादी उसकी नहीं हुई थी कहीं
गर्ज़ कि छत पर दोनों की आँखें चार होती हैं और इश्क शुरू हो जाता है और छुप-छुपा कर मिलना भी खासकर नौचंदी के दिन ज़्यारत भी (दर्शन) के बहाने। फिर राज़ खुल जाता है और सौदागर की बेटी आख़री बार मिलने आती है और कहती है...
हम तो उठते हैं इस मकान से अब, जाएंगे इस जहां से कल, याद इतनी तुम्हें दिलाते जाएं, पान कल के लिए लगाते जाएं
बेहया ऐसी ज़िंदगी को सलाम, मुहँ पे आए न थे कभी यह कलाम
ताने सुनती हूँ दो महीने से, मौत बेहतर है ऐसे जीने से......
जान दे दोगी जो तुम खा कर सिम, मैं भी मर जाऊंगा ख़ुदा की कसम
जो जो देखेगा खूब रोएगा, आगे पीछे ज़माना होएगा
सदमा हर इक पे यह गुज़रता है, ज़हर खा के कोई मरता है
शिकवा माँ-बाप का तो नाहक़ है, इनका औलाद पर बड़ा हक़ है।
......

अश्क़ बहते है लगते नागवार तेरे, तू न रो हो गई निसार तेरे
ऐसे क़िस्से हज़ार होते हैं, यूँ कहीं मर्दुए भी रोते हैं
डाल दो फिर गले में हाथों को - फिर गिलौरी चबा कर मुँह में दो
फिर कहाँ हम, कहाँ वे सोहबतें यार, कर लो फिर हमको भींच-भींच कर प्यार

मैं दिलों-जान से फिदा हूँ तिरी, ले के मर जाऊँ मैं बला तिरी
......
कह के यह फिर चिपट गई एक बार, और किया ख़ूब भींच-भींच के प्यार
सर से लेकर बलाएँ ता बा क़दम, बोली तुम पर निसार होते हैं
कह के यह बात हो गई सवार, यूँ बंधा आँसुओं का आँख से तार
दिल में कहने का उसके था जो मलाल, आते थे ज़हन में अजीबों ख़्याल
कौन रोकेगा जा के घर बैठे, जो कहा है कहीं न कर बैठे।
......

पाई तन्हा जो मैंने यार की क़ब्र, दिल में बाक़ी रहा न ताकते सब्र
गिर पड़ा आके क़ब्र पर एक बार, और रोने लगा मैं ज़ारो-ज़ार
मर गई थी जो मुझ पे वह गुलफ़ाम, ज़िन्दगी हो गई मुझे भी हराम
देखा आँखों से था जो ऐसा क़हर, खा गया मैं भी घर में आकर ज़हर
दोपहर तक तो कै रही जारी, बाद फिर उसके ग़श हुआ तारी, न दिन तक रही वह बेहोशी
हो गई जिससे ख़ुद फरामोशी ऐन ग़फलत में, फिर यह देखा ख़्वाब कि कहती है वो बाचश्मे एताव

सुन रे! तूने ज़हर क्यों खाया, कुछ वसीयत का भी न पास आया
हुए ख़ुद रफ्ता ऐसे हद से ज़ियादा, दो ही दिन में भुला दी मेरी याद
...
हासिल इतना था इस कहानी से, हम रहे जीते सख़्त जानी से
इश्क़ में हमने यह कमाई की, दिल दिया, ग़म से आशनाई की।

मसनवी सरल, सहज और उर्दू में नदी की तरह प्रवाह अपने में लिए हुए है। मसनवी 'सहरूल बयान' मीर हसन की मसनवियों में से एक है, जो 1878 में लिखी गई और नवाब आसिफ़ुद्दौला को समर्पित की गई। इस में भी प्रेम-कथा है। इन सभी दास्तानों में हुसन, जवानी का जहां खुला बयान है वहीं पर एक उपदेश भी है। दया शंकर नसीम की 'गुल-ए-बकाउली' में प्रेम के साथ जंग देवों-राक्षसों से रही और तलाश उस फूल की थी कि जिसे आँखों में लगाते ही राजकुमार के पिता की बेनूर आँखों में रौशनी आ जाती है और एक हसीना से भी मुलाक़ात होती है।

हम कह सकते हैं कि 13वीं सदी में दास्तानगोई उर्दू में ज़बानी सुनाने वाली कलात्मक विद्या रही है फिर 16वीं सदी में उर्दू की दास्तानगोई पर फ़ारसी का प्रभाव नज़र आने लगा। लेकिन दास्तानगोई अपने चरम पर अकबर के दरबार में पहुंची जहां न केवल दास्तां सुनाई जाती थी बल्कि स्वयं अकबर दास्तानगोई का शौक रखता था। जिसने 'दास्तान मीर हमज़ा' की कहानी पर चित्र बनाने शुरू किए थे जिस में यह बड़े बड़े कैनवास दास्तानगो के सामने रख कर दास्तान सुनी जाती और जैसे ही कहानी आगे बढ़ती तो कैनवास बदल दिया जाता था। इस दास्तान को सुनाने वाले आमिर हमजा ने कभी सोचा भी न होगा कि उनकी सुनाई कहानी इस हद तक लोकप्रिय होगी।
पहला उर्दू संस्करण दास्तान मीर हमज़ा का 19वीं सदी के शुरू में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज इंस्टीट्यूशन, जो ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा कलकता मे स्थापित हुआ था, वहाँ छपा था। हमज़ा गालिब की पसंदीदा दास्तां थी जिसकी दास्तानगोई की बैठकें उनके घर पर सप्ताह में एक बार, दो वर्ष तक चली थीं। सर सैय्यद अहमदखान की 'असरार-अस-सनदीद' जामा मस्ज़िद की सीढ़ियों पर बैठ कर दास्तानगो सुनाते थे। मस्ज़िद में एक कोना भी था जहाँ कुरान की दास्तान भी सुनाई जाती थी; उसी तरह हातिम ताई की।
क्रमशः

साक्षात्कारों के मध्य गगन गिल

डॉ. शैलजा सक्सेना
सह-संस्थापक
हिंदी राइटर्स गिल्ड-कैनेडा

गगन गिल हिंदी साहित्यकारों और पाठकों के लिए बहुत जाना-पहचाना नाम है। हर लेखक के साहित्य का अपना एक व्यक्तित्व होता है। गगन गिल का साहित्यिक व्यक्तित्व एक यात्री का है। यह साहित्य यात्रा में खिड़की से झाँकते दृश्यों पर तो विचार करता ही है पर अपने भीतर चलने वाले दृश्यों पर इसकी दृष्टि अधिक है। यह यात्रा बाहर से भीतर की नहीं अपितु भीतर से बाहर की है और इस संदर्भ में उनका लेखन अपने समकालीन लेखकों से अलग खड़ा दिखाई देता है। पाठक इस यात्री के भावों, प्रेम, चिंता, सोच और इन सबको व्यक्त करने वाली गहरी-सच्ची भाषा से आकर्षित होते हैं तो अनेक प्रश्न भी करते हैं। अपनी रचना-प्रक्रिया और रचना-यात्रा के संदर्भ में अनेक साक्षात्कार उन्होंने दिए हैं, तीन खंडों में स्त्री विमर्श के परिप्रेक्ष्य में सात लेखिकाओं के लेखन को खंगालने, प्रकाशित करने वाली डॉ. रेखा सेठी ने गगन जी के साहित्य का विस्तार से विश्लेषण किया है। उन पर केंद्रित "माटी" पत्रिका का विशेषांक भी उनकी रचनात्मकता को समझने का बहुत अच्छा साधन है। मैंने एक नए साक्षात्कार में उन्हीं पुराने प्रश्नों के बीच एकाध नया सवाल रख, गगन जी को उत्तर के लिए परेशान करने के स्थान पर सोचा कि उनके पहले के अनेक साक्षात्कारों के प्रश्नोत्तरों के माध्यम से उनके निकट आया जाए। तो आइए, इस छोटे से आलेख में पाठक की ज़िम्मेदार भूमिका निभाते हैं और उनके पहले के साक्षात्कारों से एक-दो महत्वपूर्ण पक्षों पर उनके विचार जानते हैं।

सबसे पहले स्त्री लेखन और स्त्री विमर्श के संदर्भ में उनके विचार देखते हैं - डॉ. रेखा सेठी द्वारा पूछा गया एक प्रश्न: "क्या स्त्री विमर्श, स्त्री कविता की संभावनाएँ तलाशने की अपेक्षा उसके लिए सीमा तो नहीं बन गया?'

गगन जी कहती है; "स्त्री लेखन और स्त्री विमर्श दो अलग-अलग विषय है। हम क्यों करें स्त्री विमर्श? स्त्री विमर्श हमारा काम थोड़े ही है! यह राजनीतिक एजेंडा है, सामाजिक एजेंडा है। एक्टिवस्ट लोगों का काम है... लेकिन साहित्यकार के नाते हमारी चुनौती है आसमान के नीचे अपने निपट अकेले होने को समझ सकना। उसे भाषा में पकड़ सकना।... लेखक स्त्री नहीं होती, हम उसे स्त्री बनाते हैं अपने शोहदेपन से। जब उसकी तेजस्विता का, उसकी बुद्धिमत्ता का सामना नहीं कर पाते, तब"।

नरेंद्र पुंडरीक जी के प्रश्न कि 'क्या आपने कभी अपने स्त्री होने को लेकर लेखन में किसी तरह का कोई व्यवधान महसूस किया है?'

गगन जी स्पष्ट कहती हैं, "नहीं, बल्कि स्वयं को एक नए इलाके में पाया है, जहाँ स्वाभाविक रूप में ही ढेर सारी सघनता है, मौन है, और धीरे से बुलाता कोई सम्मोहन है, जिसे कभी इस और कभी उस दिशा में जाकर पकड़ना पड़ता है। वहाँ पहुँच कर ज्ञान नहीं मिलता, परिचय मिलता है। अपने होने का नया रहस्य खुलता है। 'यह मैं हूँ? कौन-सी मैं? जिसे मैं छिपा ले जाऊँगी, क्या वह वाली मैं?'"

उत्पल बैनर्जी के प्रश्न कि 'विभिन्न भारतीय भाषाओं में स्त्री रचनाधर्मिता में बने-बनाए ढाँचे तोड़ने के स्तर में क्या आपको कुछ अनूठा दिख रहा है?'

गगन जी कहती हैं, "मुझे अपनी समकालीन स्त्री रचनाकारों से एक शिकायत यह है कि आप कब तक पूर्वानुमानित विषयों पर ही लिखती रहेंगी और केवल इसलिए लिखती रहेंगी कि उससे स्त्री-विमर्श का एक झंडा आपके हाथ में आ जाता है। इस समाज ने आपको इतने सुनहरे अवसर दिए हैं, फिर भी आप कोई चुनौतीपूर्ण काम क्यों नहीं कर पातीं? आप कहाँ रुक जाती हैं? मुझे गहरा क्षोभ होता है, जब मैं देखती हूँ कि अगर स्त्री-लेखन यही है तो लेखिकाओं ने ही स्त्री-लेखन का सबसे ज़्यादा नुकसान किया है। स्त्रियों का मस्तिष्क बिलकुल अलग तरह से निर्मित हुआ है, क्या लेखिकाओं को इसका पता है? स्त्रियों में जो सहज करुणा है, उनकी जो सहज अंतर्दृष्टि है, क्या आप उसकी क्षमता के प्रति जागरूक हैं? एक ही टेक्स्ट आप को एड क्लास में पढ़ा दीजिए, लड़कों को भी, लड़कियों को भी, लड़की जिस तरह से उस टेक्स्ट की अंतर्ध्वनि पकड़ती है, लड़का नहीं पकड पाता। इन सात स्वरों के अलावा यह जो आठवाँ स्वर स्त्री के कंठ में विधाता ने दिया है, उसका उपयोग कोई बिल्कुल नई खिड़की खोलने में किया जा सकता है और करना चाहिए। हमारे इतिहास में, विश्व के इतिहास में समय-समय पर स्त्रियों ने किया है।"

किसी भी विमर्श या चिंतन का साहित्य हो, मुख्य बात है, उसके लिखने का उद्देश्य या सार्थकता |

अनामिका 'अनु' जी ने एक साक्षात्कार में पूछा कि 'साहित्य मनुष्य को बदल सकता है, साहित्य लिखकर क्या लिखने वाला भी बदल सकता है?'

गगन जी कहती हैं, 'ज़रूर। दरअसल आप चाहें तो भी ऐसा हो नहीं सकता कि आप बदलें नहीं। यह प्रकृति का अटल नियम है। लेखन और पठन ही नहीं, दिन भर होने वाले अन्य कार्यकलाप भी हमें बदलते रहते हैं। जाने-अनजाने सुबह से शाम तक कितनी चीज़ों से हमारी मुठभेड़ होती रहती है। मन और शरीर दोनों क्रिया-प्रतिक्रिया में लगे रहते हैं। ऐसे क्षण बहुत कम आते हैं जब उस घटना को, उस बदलने को हम ठीक-ठाक पहचान पाते हैं। अक्सर तो सब धुंधला रहता है। हैरानी होती है, हम इतना बदल कैसे गए।"

विपिन चौधरी जी का लेखन को लेकर प्रश्न था, 'क्या लेखन सचमुच में एक यातना है?'

गगन जी कहती हैं, "नहीं, लेखन यातना से मुठभेड़ है। यातना का सामना किए बगैर उससे मुक्ति संभव नहीं। यातना से इस मुठभेड़ में वे और हर सही लेखक लगातार लगा रहता है। इस यातना का सामना करना आसान नहीं।"

अनामिका 'अनु' जी के प्रश्न कि 'आपकी पसंद की चार पंक्तियाँ?'

में वे लिखती हैं - "हाथों में पता नहीं रबड़ है कि पैंसिल है। जितना भी लिखता हूँ उतना ही मिटता है।" निसंदेह जो मिटता है, वही शेष बचे सत्व का पता देता है। लिखना उनकी विवशता है! छपास और यश की बहुल भूख के बीच, शुद्ध लेखन की विवशता का अर्थ है, मन के अरूप को पकड़ना, इसी अरूप को पकड़ कर अपने और जगत के अरूप को जाना जाता है। योगी, साधक इस जानने में भक्ति राग मिला कर आनंद लेते हैं, दार्शनिक बौद्धिक आनंद और लेखक भाषा के चमचे से इस भाव आनंद को पाठकों के मन-पात्र में डालता है।

गगन जी के दो अत्यंत प्रिय और प्रेरक व्यक्तित्व महाकवि रवींद्रनाथ टैगोर और बुद्ध हैं। दोनों ही आत्मा की करुणा, दया और प्रेम के माध्यम से विश्वात्मा/ सर्वात्मना से जुड़ने की बात कहते हैं। टैगोर के पास इसे व्यक्त करने के लिए रागात्मक संवेदना में पोर-पोर डूबी सुकोमल भाषा है। गगन जी उनसे प्रभावित हैं पर अपने को उनका डुप्लीकेट करने की इच्छा उनमें नहीं। उनके साहित्य का अपना समय, समाज, टेक्स्ट और टैक्स्चर है, राग से विराग की यात्रा, संवेदना से भाषा की यात्रा, भीतर से बाहर की यात्रा है। पाठक जितना उनके साथ हो पाता है, उतना उन्हें जान पाता है, उतना ही समृद्ध होता है। इन महत्वपूर्ण साक्षात्कारकर्ताओं का आभार जिनके कुछ प्रश्नों के बीच हम दो-तीन आयामों पर गगन जी के विचार समझ सके।

कृष्णा सोबती: भाषा का जनतंत्र

(ज्ञानपीठ द्वारा सम्मानित लेखिका कृष्णा सोबती की जन्मशती पर विशेष)

रेखा सेठी
प्रोफ़ेसर
दिल्ली विश्वविद्यालय

कृष्णा सोबती का लेखन उनके व्यक्तित्व की ही तरह विराट है। कृष्णा जी का नाम आते ही उनका हँसता हुआ चेहरा सामने आ जाता है। मंद-सी मुस्कान हर क्षण होंठों के कोरों से बिखरती हुई जैसे कहती हो कि मेरी आँखों से भी दुनिया देखो। उनकी कलम से रची जाती दुनिया में अलग-अलग रंग हैं, ज़िंदगी के ऐसे टुकड़े जो अपने आप में पूरे हैं। पंजाब की पंजाबियत, सोबती की सोहबत बनकर उसमें रची-बसी है। 'ज़िंदगीनामा' और 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान' हो या 'डार से बिछुड़ी', 'मित्रो मरजानी', 'सूरजमुखी अँधेरे के' या 'ए लड़की'-- कृष्णा जी ज़िंदगी का कोई न कोई अछूता पक्ष पन्नों पर उतार देती हैं। सभी उपन्यास अपनी ज़मीन से उपजे पात्रों और परिवेश को साथ-साथ साकार कर देते हैं। जैसे ज़िंदगी की धूप का कोई टुकड़ा।

इन रचनाओं में सामाजिक परिवेश इस तरह उभरता है कि हर रचना के भीतर से एक नया सत्य उजागर हो जाता है। उनके लेखन का कैनवस बहुत बड़ा है। एक तरफ वहाँ विभाजन का दर्द है तो दूसरी तरफ स्त्री जीवन की अनंत छवियाँ, जिनमें आकांक्षा, संयम, उत्साह और चुप्पी के कहे-अनकहे रूपक गढ़े जाते हैं। उनके शब्दों से गुज़रते हुए सर्जक कृष्णा सोबती की छवि लगातार उद्भासित होती रहती है जो बतौर गवाह इन सब में मौजूद हैं, लिप्त भी और तटस्थ भी।

कृष्णा सोबती का कथा संसार जिस ताप से जगमगाता है, उसकी रोशनी दूर तक जाती है। उतना ही महत्वपूर्ण उनका कथेत्तर गद्य भी है। उसमें विविधता व विस्तार के साथ-साथ सर्जक की उस दृष्टि की पहचान होती है जो अपने रचना-कर्म में कल्पना और यथार्थ को, शब्दों की नोक पर ऐसे बुनता है कि न कुछ अतिरिक्त रहे, न कम। 'सोबती-वैद संवाद', 'शब्दों के आलोक में' तथा 'लेखक का जनतंत्र', कृष्णा जी के चिंतक रूप के साक्षी हैं। उनका चिंतन लेखक की ज़िम्मेदारी से लेकर रचना प्रक्रिया की दुश्वारियों और उसके बीच लेखकीय उत्तरदायित्व के साथ, नए विषय और नई अभिव्यक्ति खोजने और पाने की कठिन यात्रा का पड़ाव है।

रचनाकार के उत्तरदायित्व और रचना प्रक्रिया को समझना किसी लेखक के लिए भी आसान नहीं है। जैसे मुक्तिबोध अपनी कविता और अपने चिंतन में एक गहरे आत्म संघर्ष से गुज़रते हैं और जीवन भर अभिव्यक्ति की खोज के लिए प्रतिबद्ध रहे हैं, उसी तरह कृष्णा सोबती हर रचना में गहरे अंतर्द्वंद्व से गुज़रती दिखाई देती हैं। साहित्य के रूढ़िबद्ध प्रतिमानों को वे कुछ इस रूप में चुनौती देती हैं कि उससे उनकी लेखकीय निष्ठा उजागर होती है। उन्होंने अपने साहित्य में एक नए सौंदर्यशास्त्र की खोज की है। 'चन्ना' की छपाई के बाद उसे वापस ले लेने का निर्णय मात्र उनका हठ नहीं था। अपने लेखन, अपनी भाषा के प्रति अपने दायित्व-बोध का स्वीकार है।

'ज़िंदगीनामा' की भाषा को लेकर उनकी बहुत बार आलोचना हुई। भाषा के शुद्धतावादी आग्रह के कारण इस भाषा के प्रति दुराग्रह बना रहा। उस समय के प्रतिष्ठित लेखकों, भगवतीचरण वर्मा तथा अमृतलाल नागर ने कृष्णा जी को सावधान करने की कोशिश की, कि ऐसी पंजाबी मिश्रित हिन्दी चल नहीं पाएगी तो कृष्णा जी ने अपनी या अपने लेखन की स्वीकार्यता बनाने के लिए अपना रास्ता

नहीं बदला। एक लेख में उन्होंने यहाँ तक लिखा “नागरी भाषा किसी की बपौती नहीं। उसका तामझाम सिर्फ कुर्सीनशीनी नहीं। सिर्फ अमलदारी नहीं। सिर्फ पुरोहिताई नहीं। हिन्दी-संस्कृत महारानी की पुरानी धोती ही नहीं। वह अपनी जन्मजात सामर्थ्य में जीवंत भाषा है।“ (शब्दों के आलोक में पृ 345) उन्होंने गद्य भाषा के रूप में हिन्दी की सामासिक बहुलता को स्वीकार किया क्योंकि उसी से उसका जनभाषा का रूप बनता है। जिस तरह फणीश्वरनाथ रेणु ने आंचलिक ध्वनियों से भाषा की लय बदल दी, उसी तरह कृष्णा सोबती ने अपने हर उपन्यास में भाषा की अलग तर्ज़ पकड़ने की कोशिश की, जिसमें कहीं पंजाबी, तो कहीं राजस्थानी, या फिर उर्दू आदि भाषाओं के शब्द हिन्दी में इस कदर घुल-मिल गए हैं कि भाषा का नया रूप बनता है। ‘शब्दों के आलोक में’ उन्होंने लिखा :

“रचनात्मक स्तर पर किसी भी पाठ की भाषिक संरचना जितनी सीधी-सादी और सरल होने का आभास देती है, उतनी ही संश्लिष्ट गूँथ उसकी बनावट और बुनावट में होती है। शब्दों के गंभीर और विशिष्ट गतिशील रंग एक साथ पाठ के वजूद को उसके अस्तित्व और पहरन को एक धड़कती लिखत के रूप में प्रस्तुत कर रहे होते हैं। शब्दों के संयोजन से पाठ वृतांत अथवा संवाद के प्रत्याशित और अप्रत्याशित तक पहुंच पाना, शब्दों को, ध्वनि को स्फूर्त रंग-रूप में ढालकर उनके अर्थों का आलोक ब्रश द्वारा अंकन के समान ही उभरता चला आता है।” (पृ 345)

शब्दों की आत्मा अनुभव के ताप से निखरती है। कृष्णा जी ने अनुभव के हिसाब से भाषा को एक ऐसा रंग दिया जो अपने आप में साहित्य की मिसाल है। इसकी सार्थकता केवल हिंदी में पंजाबी या राजस्थानी या गुजराती के कुछ शब्द मिला देने भर से नहीं आती,बल्कि इस बात से पैदा होती है कि हर उपन्यास के लिए लेखक कितनी तैयारी करता है। उनके अनुसार “भाषा सिर्फ वह नहीं जिसे हम व्याकरण के मुताबिक सीखते-पढ़ते हैं। लिखते हैं। भाषा वह भी है जिसे आप जीते हैं, जीकर अर्जित करते हैं। रचनात्मक स्तर पर उसका प्रयोग करते हैं।“ (सोबती-वैद संवाद पृ. 102) कृष्णा जी की यह भाषा सजगता ही उन्हें लेखकों की विशिष्ट पंक्ति में स्थापित करती है।

कृष्णा जी की भाषिक सजगता अनेक स्तरों पर सक्रिय रहती है। भाषा की दृष्टि से ‘ज़िंदगीनामा’ इतिहास के एक काल-खंड को सजीव करने के साथ-साथ अविभाजित पंजाब की बोलीबानी का शब्दचित्र है, जो मिट्टी की गंध से महकता है और झेलम, चेनाब के रलमिल पानी की द्विआभा से जीवन-वृक्ष सींचता हुआ स्वयं ही पन्नों पर उतर आया है।

“पिंड के कच्चे कोठे चम्म चम्म चमकने लगे। दमकने लगे। चान्ननी ने सजरी लिपाई से
खेत- खलियान रुख-वृक्ष उजला-उजला दिए।
कुओं के मिट्ठड़े सुर झलमल-झलमल हियरों को हुलसाने लगे।
बेटों-बछड़ों के साथ घरों को लौटते बलदों की जोड़ियाँ जी की तृखा-प्यास जगाने लगीं।
चूल्हों से उठती उपलों की कच्ची गंध हर कोठे हर चौके को महकाने-लहकाने लगी।

रब्बा, ये सोहणे समय मनुक्खों के साथ लगे रहें। सजे रहें।” (ज़िंदगीनामा पृ 17)
यह उपन्यास उनके लिए नहीं है जो भाषा की शुद्धता को जड़ता की हद तक बचाने की कोशिश करते हैं। इस भाषा की विलक्षणता अपने कथ्य का रूप विस्तार करते हुए उसका अभिन्न अंग हो जाने में है। सामान्य हिन्दी पाठक के लिए इसके शब्द अपरिचित हो सकते हैं लेकिन जिस भूखंड की वह कहानी है उसकी लय को जीवंत करने में यह प्रयोग अप्रतिम है। इस उपन्यास की संरचना महकाव्यात्मक है। उसी के अनुरूप इसकी भाषा उस जीवन-शैली को अपने सच्चे खरे रूप में अभिव्यक्त करने का वृहद दायित्व वहन करती है। हालांकि, उसकी मुहावरेदानी को आलोचकों ने एकमत से स्वीकार नहीं किया लेकिन कृष्णा जी ने भाषा के जनतंत्र में अपने दृढ़ विश्वास को कम नहीं होने दिया बल्कि जीवन के अंत तक ‘ज़िंदगीनामा’ उनके हृदय के सबसे निकट बना रहा।

उनकी लंबी कहानी ‘यारों के यार’ भी, अपने भाषाई तेवर के लिए हिंदी समाज द्वारा कटघरे में खड़ी कर दी गई। यह कहानी, नौकरशाही की ऊंच-नीच में फंसे उन लाचार बाबुओं की कहानी है जो अपनी विवशता को अपनी भाषा के तुर्श तेवर में छिपा लेना चाहते हैं। “एक तगड़ी गाली सूरी के होंठों तक आई, मगर दरवाज़े पर बड़ेबाबू को देख मुहरबंद हो गई। झुँझलाकर अपनी मेज की ओर बढ़ा, कुर्सी खींची और कलमदान से कलम उठाते हुए बुड़बुड़ा दिया “जनखे साले माँ के यार को मामा ही कहेंगे।”

“(यारों के यार पृ 24) कहानी की यह भाषा जिस तरह बारीक डीटेल को पकड़ती है उससे पूरा दृश्य गतिशील जीवंत भाषा में साकार हो जाता है लेकिन यह अत्यंत दुख की बात है, कि हिंदी समाज का ध्यान उस विवशता पर न जाकर इस कहानी की भाषा में अपशब्दों के प्रयोग की तरफ ज्यादा गया। निर्मला जैन ने अपनी पुस्तक ‘कथा समय में तीन हमसफर’ में लिखा है, “इसके छपते ही साहित्य की दुनिया में एक अजब हलचल सी मच गई। सबका ध्यान विषय वस्तु से अधिक उस में आने वाले अपशब्दों पर अधिक गया। साहित्यकारों और आलोचकों ने उस भाषा के औचित्य पर प्रश्न उठाए। कृष्णा जी के लिए चुनौती साफ थी--यदि यही कहानी किसी पुरुष ने लिखी होती तो उसे लेखक की स्वतंत्रता का सवाल मानकर इतना बवाल न मचता।“ साफ है कि यह सिर्फ भाषा का सवाल नहीं जेन्डर का भी सवाल है। खासतौर पर लेखक के जेन्डर का सवाल। कृष्णा जी को स्त्री-पुरुष के भेद पर भाषा का यह बँटवारा कतई स्वीकार नहीं था। उनका कहना था कि ‘कार्यालयी माहौल में गालियों का इस्तेमाल तो तकिया कलाम की तरह धड़ल्ले से होता है और वहाँ फिर गालियां गालियां नहीं लगती। ’यारों के यार’ में गालियों का अत्यंत सजग प्रयोग हुआ है और सतर्क भी। दफ्तरी व्यवहार में ये गालियां अश्लील नहीं लगती, बल्कि नौकरी के जिस माहौल में सूरी जैसे लोग अपनी दयनीयता को अपनी भाषा के पौरुष से ढक लेना चाहते हैं, वहाँ ये गालियां अनेक व्यंजनाएं पैदा करती हैं।”

निर्मला जैन, इस पूरे विवाद पर विस्तार से विचार करते हुए यह राय रखती हैं कि ‘एक स्त्री की कलम से ऐसी भाषा और ऐसी कहानी का आना सबके लिए एक चुनौती बन गया था। कृष्णा जी ने सभी आक्षेपों के उत्तर अत्यंत धैर्य से दिए। बिना विचलित हुए इन सवालों के उत्तर में उन्होंने भी कुछ सवाल उठाए। सबसे पहले तो यही था कि क्या साहित्यिक भाषा रचनाकार के भेद से जनानी और मरदानी होनी चाहिए? दूसरा, कि रचना में यथार्थ के आग्रह से यदि एक ऐसी भाषा की आवश्यकता होती है जिसमें सब कुछ साफ-साफ बिना किसी पर्दादारी के ढंग से कहा जाए, तो उसका उपयोग करने में झिझक कैसी? श्रीकांत वर्मा ने भी उस समय एक सवाल उठाया था और वे

इस भाषा के सार्थक प्रयोग का सवाल था। कृष्णा जी का उत्तर था कि जब अतिरिक्त सजगता या सतर्कता से किन्हीं चौकानेवाले शब्दों यानी गालियों का प्रयोग किया जाता है, तो वे अपना लक्ष्य पूरा नहीं करते।' नई कविता और नई कहानी के दौर में यह चिंतन हुआ, कि अभिव्यक्ति के रूप लगातार दोहराए जाने पर सिक्कों की खनक की तरह अपनी खनक खो बैठते हैं। उन्हें बार-बार नई अर्थवत्ता देने के लिए पूरे कथा विन्यास को, कहानी के पूरे भाषिक विन्यास को पलट कर कुछ इस तरह इस्तेमाल करना होता है कि वह नएपन के साथ-साथ उस अर्थ को लंबे समय तक ध्वनित करता रह सके। 'यारों के यार' कहानी कृष्णा सोबती द्वारा कुछ ऐसा ही प्रयास है।

विश्वनाथ त्रिपाठी ने 'कुछ कहानियाँ : कुछ विचार' पुस्तक में इस कहानी में भाषा के इस तेवर के विरुद्ध यह तर्क दिया कि 'रचना सांस्कृतिक प्रक्रिया है।' अतः उसमें लेखक को कलात्मक संयम इस्तेमाल करना ही चाहिए। इन अपशब्दों का प्रयोग अनौपचारिक बातचीत में तो होता है लेकिन यथार्थ के नाम पर उसे रचना में पिरो देना अनावश्यक है। 'रचना में शायद वे चौंकाते हैं या अरुचि उत्पन्न करते हैं।' ऐसे तमाम सवालों के उत्तर में कृष्णा जी ने जो कहा उसे निर्मला जैन की पुस्तक में उद्धृत किया गया है -"स्थानीय दफ्तरी माहौल, जिस मर्दाना वाचन की शाब्दिक ध्वनियों से उभरता है, उससे पाठ की मर्यादा लेखक क्यों भंग करे। बोलियों और किसी हद तक भाषा में भी गालियों की अपनी सामाजिक हैसियत है। इन्हें इस्तेमाल करने में लेखक को क्यों परेशान होना चाहिए।" (कथा समय में तीन हमसफर पृ 64-65) इस पूरे विवाद पर टिप्पणी करते हुए निर्मला जैन लिखती हैं, "'यारों के यार' में अपशब्दों की गिनती में आने वाले प्रयोगों ने यदि कुछ लोगों का जायका बिगाड़ा या उनकी शालीनता को ठेस पहुंचाई तो क्या इसके पीछे महिला-कलम की मौजूदगी का एहसास नहीं रहा ? यही कहानी अगर कमलेश्वर या राजेन्द्र यादव की कलम से आई होती तो थोड़ी बहुत छींटाकशी से ज्यादा कुछ ना होता यह लगभग तय है"(वही पृ 65)

'मित्रो मरजानी' के कथ्य और अभिव्यक्ति को लेकर भी शील-अश्लील का प्रश्न बना रहा। अज्ञेय ने तो बहुत पहले ही कहा था, अधूरा देखना ही अश्लील देखना है। कृष्णा सोबती ने अपने स्तर पर इस चुनौती का सामना किया। दरअसल, समाज में रूढ़ हो चुके नैतिक आग्रहों के कारण हमारे पास सेक्सुएलिटी को अभिव्यक्त करने की उचित भाषा नहीं है। कृष्णा जी ने इस पर विचार भी किया और इस भाषा का संधान भी किया। 'सोबती-वैद संवाद' में स्त्रीवाद और स्त्री लेखन पर विचार करते हुए कृष्णा जी ने अपनी धारणा स्पष्ट की है, कि रचनात्मक कर्म में स्त्री और पुरुष में भेद नहीं किया जाना चाहिए। हमारे समाज को उनकी भिन्नताओं के साथ-साथ उनकी समानताओं को देखने की भी आदत होनी चाहिए।

बदलते समय में बदलते स्त्री स्वर की पहचान करते हुए वे कहती हैं—"अब स्त्री अपनी अभिव्यक्ति में सेक्सुअल मनोवृतियों, और प्यार को लेकर अपने भावों को भी व्यक्त करने लगी है। इस पर लिखने का पहले पुरुष का ही अधिकार रहा। अब यह चमत्कार स्त्री के पाले में है। वह स्वयं को उद्घाटित कर रही है और अपने वैभव में एक साथ पुरुष के पुरुषत्व और उसकी सीमाओं को भी देख रही है। अब वह अपने एकत्व में अपने को भी ढूँढती है। और पुरुष के स्वरूप को भी नई नजर से, नई भाषा में गढ़ रही है, नए शब्द ढूंढ रही है। पुरुष के नीचे पड़े रहने की दैहिक प्रताड़ना से उबर

रही है।" (पृ 148-149) स्त्री और भाषा तथा स्त्री-भाषा के द्वन्द्व को उद्घाटित करने वाला यह महत्वपूर्ण कथन है। स्त्री का अपनी भाषा से वही रिश्ता है जो पुरुष का होता है लेकिन स्त्री-भाषा के स्तर पर यह स्त्री द्वारा अभिव्यक्ति के नए रूप का संधान है। कृष्णा सोबती ने अपने साहित्य में भाषा के इस रूप को अर्जित किया है जो अलग-अलग रचनाओं में साफ दिखाई देता है। 'मित्रो' में यह भाषा देसी ठाठ के साथ उभरती है तो 'दिलो-दानिश' में खास नफासत के साथ। इस भाषा की एक उपलब्धि 'सूरजमुखी अँधेरे के', में दिखाई पड़ती है, जहाँ रचनाकार रत्ती और दिवाकर के प्रणय-प्रसंग को शब्दबद्ध करती हैं। उस समय तक किसी स्त्री रचनाकार ने दैहिक मिलन की इस पूरी प्रक्रिया को शब्दों में नहीं सिरजा था। वर्णन में वे एक साथ दैहिक और देहातीत को एक साथ एक बिम्ब की तरह उतार देती हैं:"रत्ती मगन-सी चुपचाप लेटी रही।

छलछलाते बढ़-बढ़ आते ज्वार की स्तुति में दिवाकर ने रत्ती को भींचा और गले के बटन खोल डाले। हाथ से सुख दिया। सुख लिया।

कमर पर के बंद खोले और बार-बार उस जल-थल को चूमते चले गए।" (सूरजमुखी अँधेरे के पृ 127)

देह से देह को पाने का यह अद्भुत दृश्य बिम्ब है, जिसके लिए लेखिका ने पूजा-स्थल का रूपक गढ़ा है---"धीमी हो गई आँच की लौ में डूबा कमरा कोई पूजा-स्थल हो। एक वेदिका पर साथ-साथ लेटे हुए वे दोनों देवगण हों। देवता। अपने-अपने तन में छिपे स्रोतों से जिन्हें अमृत की बूंदें पानी हों। भगीरथी खींच लानी हो।" (वही)

कृष्णा सोबती के साहित्य में जितना महत्व शब्दों की मुखरता का है उतना ही उन चुप्पियों का भी है जो शब्दों और पंक्तियों के बीच अंतरध्वनित होती हैं। 'सिक्का बदल गया' की शाहनी एक शब्द अतिरिक्त नहीं बोलतीं, लेकिन उनकी चुप्पी में दर्द का सागर हिलोरे लेता है। 'डार से बिछुड़ी' की पाशो, अपनी देह पर हुई हिंसा को किन्हीं शब्दों में बयान नहीं करती, बस, 'पड़ी रही.. पड़ी रही.. पड़ी रही.... उठी नहीं' में कहती है। वेदना और प्रतिकार की यह अनूठी भाषा है जिसे कृष्णा सोबती ने अपनी सुचिन्तित रचनात्मक यात्रा में अर्जित किया।

कृष्णा जी के लिए भाषागत चिंतन लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के समानांतर है। उनके एक लेख का शीर्षक है "लोक की प्रतिष्ठा में लेखक का गणतंत्र है'। इस लेख में उन्होंने शब्द की उस सत्ता को स्वीकार किया है जो अव्यक्त को व्यक्त करते हुए जीवन के सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव को मूर्त करता है। वे कहती हैं---"दोस्तो, भाषा इस लोक की जीवंतता का रोमांस है।" (शब्दों के आलोक में पृ 280) और भाषा की जीवंतता की पहचान उन्हें होती है, 'भारतीय भाषाओं के विशाल परिवार' की ओर देखने से। वे इस पर विचार करते हुए लिखती हैं—"हमारी भारतीय विविधता का लोकतंत्र जनमानस में स्थित है। अनेक भाषाई मुखड़े अपनी विविधता में उस केन्द्रीय इकाई को प्रस्तुत और तरंगित करते हैं जिसे हम भारतीयता के नाम से पुकारते हैं।" (वही पृ 281) अपने चिंतन और लेखन में कृष्णा सोबती ने भाषा के इसी आदर्श को प्राथमिकता दी। भले ही इसके लिए उन्हें आलोचना सहनी पड़ी या साहित्यिक संवाद और बहस में उलझना पड़ा हो। उन्होंने सरल समझौते कभी नहीं किए। उनके लिए भाषा का लक्ष्य 'अभिव्यक्ति के खतरे' उठाना तो है ही साहित्यिक संस्थाबद्धता को चुनौती देना भी है।

प्रभास की सीपियाँ

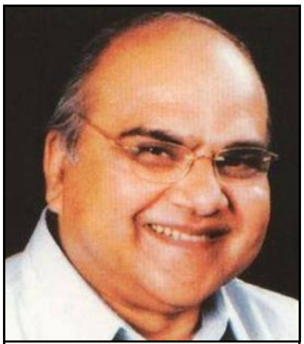

नर्मदाप्रसाद उपाध्याय
संस्कृतिविद तथा कला इतिहासकार

द्वारिका से लौटते हुए प्रभास क्षेत्र की ओर यात्रा बढ़ चली। उसी पथ से जिस पथ से संकर्षण बलराम गए होंगे, अभिशप्त यादव गए होंगे, गए होंगे अर्जुन, दारुक और कृष्ण। सागर के तट से सटे हुए पथ पर यात्रा जारी है। पोरबन्दर से प्रभास तक जो सड़क जाती है वह अचानक उन्मुक्त हो उठती है। चलते-चलते सड़क के दोनों ओर दीख पड़ने वाले टीले और वृक्ष विलुप्त हो जाते हैं और सड़क के समानान्तर गर्जन करता तरंगों को बार-बार तट पर टकराता अपरिमित सागर दिखाई देने लगता है।

साँझ निकट आ रही है, सूरज भी प्रयास कर रहा है सागर में समा जाने का लेकिन उसमें समाने से पहले वह उसकी हर हिलोर को अपनी किरणों से स्वर्णिम बना देना चाहता है। हर उठती हरी हिलोर पर सोने की अद्भुत वर्षा हो रही है। लहर के ऊपर स्वर्णिम कान्ति है और लहर के ऊपर उठते ही उसकी बूँद-बूँद में बिखरी रजत आभा! इस सागर ने इस ढलते दिवस में सोने और चाँदी के जाने कितने खज़ाने अनावृत्त कर दिए।

आँखें तो इस अद्भुत शोभा को निहार रही हैं लेकिन छोटे बालक का कुतूहल उसे सागर के उस रेतीले तट तक खींच ले गया जहाँ सीपियाँ ही सीपियाँ बिखरी हैं। इन बिखरी सीपियों को वह तल्लीनता से बटोर रहा है। दृष्टि सागर पर पड़ती है, रेत पर बिखरी सीपियों पर और उस अबोध बालक पर जिसे सागर की उत्ताल तरंगों का नर्तन अभिभूत नहीं करता, रेत पर बिखरी सीपियों का सम्मोहन खींचता है।

मन कहीं दूर द्वापर तक चला जाता है। अपनी अंतिम यात्रा के समय में कृष्ण भी इसी पथ से गुज़रते, इसी समुद्र के किनारे अबोध शिशु बन गए होंगे। कृष्ण तो स्वयं समुद्र थे मगर इस समय उनके लिए वह तुलनीय नहीं रहा। उसका वैराट्य, उसकी गहराई, उसकी आसमान को छूती हिलोरें, उनकी दृष्टि में यह सब निस्सार था। वह सागर जो द्वारिकाधीश के पाद-प्रक्षालन द्वारिका में करता रहा, उसे वे वहीं छोड़ आए थे। वे तो अब निपट अकेले कृष्ण थे। मानव कृष्ण। उस पल उस समुद्र को उन्होंने कुछ इस तरह देखा मानो वह सिर्फ सीपदान करने वाला अपनी तरंगों में लीन दाता भर हो।

इस सागर के अपरिमित स्वरूप में, उसकी तरंगों में, गर्जन में, उन्होंने अपने कृतित्व के प्रतिबिम्ब नहीं निहारे, वे तो बस बटोरते रहे सीपियाँ जो कभी उनके कृतित्व की मूक साक्षी बनकर सागर के तल में युगों तक पड़ी रहीं और आज सतह से रेत के तट पर आकर उनसे मानो पूछ रही हों कि हमें अब सहेजने की सुध आई जब खुद अपनी सुधि बिसराने के लिए सदैव के लिए जा रहे हो।

द्वारिका से प्रभास की ओर जाते मधुसूदन इन सीपियों को जाने कब तक सागर-तट पर बटोरते-बटोरते अपनी तमाम स्मृतियों को आखिरी बार सहेज लेने का जतन करते रहे होंगे। सीप में बन्द सुधियाँ, अपनी सुध खो देने के आखिरी चरण में ही सहेजी जाती हैं फिर वह चाहे कृष्ण हों या साधारण मानव। और इस आखिरी चरण में कोई भेद नहीं रहता ईश्वर और अबोध शिशु के बीच।

इसलिए जब अबोध बालक सीपियाँ बटोर रहा था तब याद आ रहे थे युगपुरुष, भावपुरुष, अवतारपुरुष, अच्युत, सच्चिदानंदधन, कृष्ण, वे एक-एक सीपी की निचली चमकीली सतह से अपने कृतित्व की एक-एक भंगिमा देखते थे, देवकी, वासुदेव, कारा, कंस, तमाम पाण्डव, कौरव, भीष्म वे सारे यादव जिनके वे अग्रपुरुष थे, फिर रुक्मणी, सत्यभामा और न जाने कितने अनगिनत व्यक्तित्व, अपनी अनगिनत लीलाएँ और अन्त में सिर्फ एक सीप की चमकीली सतह पर राधा की छवि उभरी होगी जो प्रभास से कोसों दूर कालिंदी के तट पर ताज़े मोगरे के फूलों की वेणी बाँधे उनकी बाट युगों से जोह रही थी। यह निहारना, सीपी की बेजान सतह पर अपने जीवन्त अतीत को देखना सिर्फ कृष्ण की अपनी निधि था जिसमें कोई साझेदार नहीं था। साक्षी थी रेत जो गोपाल की साक्षी रही यमुना के उल्लास भरे तीर पर और इस निर्जन वीरान सागर-तट पर भी। इस रेत ने सिर्फ यही आखिरी सीप सौंपी श्याम को जिसमें सिर्फ श्यामा थी और कोई नहीं। इस आखिरी सीप को निहारकर केशव चल पड़े होंगे दारुक के साथ।

गांधारी का शाप सार्थक हो गया था। यादवों का अन्त निकट आ गया था। मदिरा ने मति विलुप्त कर दी थी। वे यादव जिन्होंने महाभारत में अपने पौरुष से इतिहास की धारा मोड़ दी, मदमस्त हो संघर्षरत हो गए।

स्वयं कृष्ण ने देखा कि सात्यकि ने कृतवर्मा को मारा, फिर अपने ही आत्मीय जनों के द्वारा प्रद्युम्न की मृत्यु, इसके बाद असहनीय हो गया। कृष्ण ने अपने दाहिने हाथ से भूमि पर उगी एरक घास मुट्ठी में भरकर नोंच ली। फिर उन एरक तृणों को झगड़ते यादवों पर फेंका। वे तृण मूसल बन गए और देखते-देखते संहार की रौद्रता साकार हो गई। प्रभास में चारों ओर अस्थियों के ढेर बिखरे थे, महाभारत के महान योद्धाओं के अचीन्हे अवशेष।

कृष्ण बड़े उन्मन थे। दोपहर पहले दाऊ की देह को उन्होने ध्यानस्थ अवस्था में अंततः निष्कंप होते देखा था। योग-साधना से बलराम ने शरीर त्याग दिया था। कृष्ण अब निपट अकेले थे। कृष्ण ने कहा था, 'महाभारत में, हे अर्जुन! वृक्षों में, मैं अश्वत्थ हूँ।' कृष्ण ने इसी पीपल के पास बैठकर अर्घ्यदान दिया था। हिरण-कपिला के संगम पर खड़ा यह विशाल पीपल वृक्ष कृष्ण ने चुना, उसकी जड़ों पर सिर टेककर लेट गए और अपना दायाँ पाँव मोड़कर अपनी छाती पर रख लिया। तभी हवा में कुछ सरसराहट हुई, एक तीक्ष्ण, तरल स्पर्श हुआ दाएँ पाँव के तलुए में, लहू की धार बह

निकली। तीर गहरे धँस गया था। उसे निकालने का कोई प्रयास नहीं किया।

प्रभात होने को था, आकाश में तारे धुँधलाने लगे थे। सूर्योदय के समय सूर्यास्त की वेला थी। भोर के वेश में कालरात्रि का पहला प्रहर था, इतिहास के असंख्य पन्ने फड़फड़ाकर बंद होते जा रहे थे। जिस जरा नामक शिकारी ने तीर चलाया, उसे भी निर्भय बना दिया। कहा - 'ऋषि के शाप का यह टुकड़ा मुझे लगना ही था, उसके पूर्व यह देह नहीं छूटती - तुम तो निमित्त भर हो, तुमने कोई पाप नहीं किया।'

दारुक, कृष्ण के सारथि उन्हें खोजते आए, बनमाली की छाती पर सदैव विराजी रहने वाली तुलसी की माला के गंध के सहारे। रोने लगे, पूछने लगे कहाँ जाऊँ? उसे द्वारिका जाने का निर्देश दिया। गरुड़ध्वज रथ घोड़ों सहित देवलोक को चला गया, उसी के साथ पाँचजन्य शंख, सुदर्शन चक्र, कौमोदकी गदा, शारंगधनुष ये सभी वैष्णव आयुध स्वर्ग चले गए कोई साज-शृंगार नहीं रहा।

अब कृष्ण निपट अकेले थे। प्रभास में पीपल की जड़ों पर सिर रखे। जिस धरती को इतिहास दिया उसी की धूल में सने कृष्ण, इतिहास से अब भाव में परिणत हो रहे थे।

कृष्ण के महाप्रयाण का साक्षी था 'जरा' नामक व्याध। अपनी क्षीण होती आवाज़ में कृष्ण ने उससे कहा, 'अर्जुन यहाँ आएँगे। उनसे कहना कि वे गोकुल में प्रतीक्षारत राधा को यह सन्देश भेज दें कि कृष्ण की प्रतीक्षा अब मत करना।'

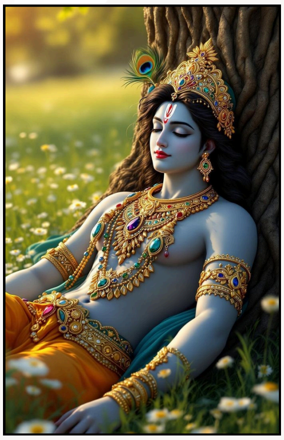

सच कहा कृष्ण ने अपनी आखिरी साँस में। सिवाय राधा के कृष्ण की सच्ची प्रतीक्षा और कौन कर रहा था? सब जो उनसे जुड़े वे कृष्ण के अभिलाषी थे। राधा के सिवा कोई नहीं था जिसके सब कुछ कृष्ण थे लेकिन जिसने सबके लिए अपने सब कुछ को छोड़ दिया था और कोई अभिलाषा तक नहीं रखी कृष्ण से। कृष्ण की अंतिम साँस में इस राधा के सिवा कौन बस सकता था? राधा को यह सन्देश देने का दायित्व उद्धव को निभाना था। उद्धव को चुना था कृष्ण ने इसलिए कि जो दायित्व कोई और न निभा पाए वह उद्धव ही निभाएँ। परम्परा से जाने कितने प्रसंग राधा के संबंध में चले आए हैं। यह प्रसंग भी है जब उद्धव गोकुल पहुँचते हैं। उद्धव कृष्ण का सन्देश लेकर पहले भी राधा के पास पहुँचे थे। आज भी एक सन्देश है। इन दोनों सन्देशों के बीच लंबे समय का अन्तराल है। सब कुछ बदल गया लेकिन राधा नहीं बदली। वह तो वैसी-की-वैसी ही है। सदा सुहागिन, वेणी बाँधे, चंदन लेपित किए, पूरा गाँव उसे पागल कहता है लेकिन उसका शृंगार अक्षुण्ण है। कोई स्त्री पति की मृत्यु के बाद भी शृंगार करती रहे तो उसे समाज पागल ही कहेगा। इस पागल राधा से उद्धव जब मिलते हैं तब वह उन्हें तत्काल पहचान लेती है। उद्धव तरह-तरह के संकेतों से उसे समझाने का यत्न करते हैं कि कृष्ण नहीं रहे लेकिन उन्हें लगता है सन्देश पहुँचा नहीं। बड़ी उहापोह के बीच वे कहते हैं राधा से कि कृष्ण नहीं रहे, उनकी देह पंचभूत में विलीन हो गई।

राधा के मुख से हँसी छूट पड़ती है। वह कहती है 'उद्धव, चलो, मैं दिखाती हूँ कृष्ण को।' वह यमुना के तट पर ले जाती है, दिखाती है उसका प्रवाह, तमाल के कुंज, निस्सीम आकाश। फिर कहती है, यह हैं कृष्ण, तुम्हारी बुद्धि भी वृद्धावस्था के कारण क्षीण हो गई, तुम भी कृष्ण को देह में देखते हो? जिसने एक बार कृष्ण का स्पर्श पा लिया वह तो स्वयं विदेह हो कृष्ण हो गया। देखो ये सब कृष्ण

हैं। कैसे कह दिया कि कृष्ण नहीं रहे ।उद्धव विस्मित हैं, विह्वल हैं। फिर राधा उन्हें उस पीपल के पेड़ के पास ले जाती है जहाँ अंतिम बार भोर के पहले पहर में कृष्ण उससे मिले थे। सदैव के लिए कृष्ण से ब्रज छूट रहा था। कोई नहीं था दोनों के पास। तब राधा ने माधव से सिर्फ एक कामना की थी कि तुम अपना पाँव आगे करो, मैं उसे आखिरी बार पखार देना चाहती हूँ। ब्रज की धूलि यदि छूटे तुम्हारे पाँवों से तो मेरे अश्रुजल से छूटे। तब कृष्ण ने अपना दाहिना पाँव आगे कर दिया था, राधा ने उसी दाहिने पाँव के तलुए पर अपनी आँखें रख दीं और जी भरकर अंतिम बार उस पाँव को अपने आँसुओं से धो दिया।

इसी दाहिने पाँव को प्रभास में पीपल की जड़ों पर लेटे कृष्ण ने आगे कर दिया था और इसी दाहिने पाँव के तलुए से जरा के बाण की नोक स्पर्श पा गई थी, गहरा और नुकीला स्पर्श, तरल रुधिर बह निकला था। राधा के आँसू चाहे हर्ष के हों या विषाद के, कृष्ण के रक्त की एक-एक बूँद ही तो थे। यदि अपनी आखिरी साँस में कृष्ण को राधा याद नहीं आती तो कौन याद आ सकता था?

प्रभास तीर्थ में आज दो स्थान हैं। एक तो वह जहाँ कृष्ण को तीर लगा और दूसरा देहोत्सर्ग, जहाँ कृष्ण की देह पंचभूत में विलीन हुई। जिस स्थान पर तीर लगा, वहाँ कृष्ण की मूर्ति है जिसमें वे पैर आगे किए हैं और तीर से विद्ध है पाँव, सामने जरा हाथ जोड़े खड़ा है। एक पीपल का वृक्ष भी है, कृष्ण के सिरहाने। कुछ आगे देहोत्सर्ग है, नदी के किनारे। वहाँ दो पाँव रखे हैं पत्थर के। इस स्थान पर खड़े होकर आसपास निहारना बड़ा विलक्षण अनुभव है। जाने कितने युग बीते, पर न कभी राधा अतीत हो सकी न कृष्ण।

मेरे एक मित्र ने बताया था कि वे जब प्रभास गए तब देहोत्सर्ग पर, कृष्ण की समाधि पर वे फूट-फूटकर रोए, मुझे विचित्र सा लगा यह अनुभव। रोने का क्या प्रश्न? कर्मयोगी की समाधि पर क्यों रोना। वह राधा नहीं रोई जिसके सब कुछ थे श्रीकृष्ण। फिर उसके लिए तो वे कर्मयोगी भी नहीं थे, निरे हरि थे, ब्रजगोपाल, वंशीधर, माधव और कान्हा।

कृष्ण की समाधि वह स्थान है जहाँ जाने पर मन में कृष्ण हमेशा के लिए विराज जाते हैं। वे तो जन्मते हैं वहाँ। कंस की कारा में जन्मे जाने वाले श्रीकृष्ण का प्रभास में अन्त नहीं होता, वहाँ उनका पुनर्जन्म हो जाता है। कृष्णत्व से संस्पर्श द्वारिका में नहीं होता, प्रभास में होता है। प्रभास नित नए उगने वाले प्रभात का नाम है। वहाँ जाने पर लगेगा कि कृष्ण प्रतिष्ठित हो गए एक बार फिर मन में, मानस में।

प्रभास मैं गया तो अभी, इसी युग में, लेकिन लगा कि मेरी साँसों में द्वापर की ही प्राणवायु समाई है। लगता ही नहीं कि समय नाम की भी कोई संज्ञा होती है और उसका लम्बा अन्तराल सब कुछ बदल देता है। देहोत्सर्ग नामक इस तीर्थ के सामने, कृष्ण की समाधि के सामने खड़े होकर यही लगता है कि मानस में कहीं कृष्ण समा गए, मन में विलय हो गए।

प्रभास से लौटते फिर सागर-तट बीच में पड़ा। इस बार अपने अबोध शिशु के साथ मैं भी सीपियाँ बटोर रहा हूँ। युगों से सागर की अथाह जल-राशि के बीच से निकली सीपियाँ और इन सीपियों की चमकीली सतह पर उभर रहे हैं जाने कितने व्यक्तित्व, कितने बिम्ब, आखिरी सीपी उठाता हूँ, उसमें वेणी से सँवरी राधा और साँवरे माधव की मोहिनी छवि है। उसे सहेजकर रख लेता हूँ। यात्रा की निरंतरता नहीं टूटती।

बृहत्तर समाज का महास्वप्न: एक घरेलू बानगी

अनामिका
प्राध्यापिका
दिल्ली विश्वविद्यालय

दाम्पत्य नौ रसों का समाहार है। शृंगार रस से यात्रा शुरू होती है, करुण रस पर तिरोहित। बीच की अवस्था में अन्य सात रसों के सुभग घालमेल घटित होते रहते हैं। एक तत्व उसमें पानी की तरह उभयनिष्ठ होता है - वह है साहचर्यजन्य ममता या वात्सल्य का, जैसे एक ही थर्मस में कोई अलग-अलग फ्लेवर और आस्वाद के शरबत बनाए पर पानी के बिना तो काम चलता नहीं है:

“सब चिराग पंचायती होते होंगे, मगर आप तो एक आदमी की चीज हैं, पंचायती नहीं हैं। पंचायती चीज को कोई पूछनेवाला नहीं होता, पर आपको तो ऐसा नहीं है, आपके साथ तो मैं ब्याही गई हूं, और आप मेरे हैं, इसलिए मुझे हक है कि आपकी हिफाजत रखूं, और आप बहुत दिनों तक मुझे पूछें!”

ये पंक्तियां हैं ‘प्रेमचंद घर में’ के उस प्रसंग की जब अपने क्षीण स्वास्थ्य के बावजूद प्रेमचंद दिन-रात की लिखा-पढ़ी और मीटिंग-शीटिंग से बाज नहीं आ रहे थे। उन्हीं दिनों ‘हंस’ हिन्दी-परिषद को सौंप दिया गया था कि इसका नुकसान कहां तक बर्दाश्त किया जाए। महात्मा गांधी के हाथों कोई दस महीने रहा, उसके बाद जुलाई के महीने में ‘हंस’ से जमानत मांगी गई, और ‘हिन्दी परिषद्’ ने इसे बंद कर दिया था।

स्वाधीनता संग्राम के जमाने में आदर्श समाज गढ़ने की संकल्पना एक सच्चे लेखक को किस तरह विह्वल और व्यस्त रखती है, एक-एक पैसे को मुंहताज उसका संयुक्त परिवार उसकी पढ़ी-लिखी पत्नी कैसे चलाती है - स्वयं अपने कई सामाजिक-राजनीतिक और लेखकीय दायित्वों के बीच सबकी हारी-बीमारी देखती हुई किन अंतर्द्वंद्व से गुजरती है, इसका बेबाक और मार्मिक आख्यान है प्रेमचंद के जीवन-पार होने के बाद छपी यह घरेलू जीवनी जो छोटे-छोटे तथ्यात्मक ब्योरों के मनके पिरोकर तैयार हुई है: पति के आदर्शों के लिए, उसके सनातन संघर्षों के लिए गहन मान, कांतासम्मत उपदेशों में मित्रसम्मत उपदेशों की सहज तुर्शी, असहमतियां, मान-मनौवल, ‘घोरबहिरे’ का द्वंद्व बंग-भूमि के बाहर पर उसके समानान्तर हिंदी-क्षेत्र में - यही विशेषताएं हैं जो इस किंचित अनगढ़ किंतु अत्यन्त पठनीय जीवनी में एक अलग आस्वाद भरती हैं:

“जिन चीजों पर मैं पहले आलोचना करती थी, आज उन्हीं को हृदय से चाहती हूं और सबसे ज्यादा उसी ‘हंस’ को जिसको नादिरशाह ने हुक्म दिया था कि अगर यह नुकसान देगा तो इसको बंद कर दूंगी... सब लोगों ने कहा कि अभी तक तो यह चला था, अब कैसे इसको चलाइएगा? मैंने ही जवाब उनको दिया कि जब मेरे पति पिता होकर ‘हंस’ को न छोड़ सके तो मैं तो मां हूं। और मां शायद बेकार और निकम्मे बेटे को फिर ऐसी हालत में जब उसका पिता न हो, सबसे ज्यादा प्यार (पृ. 222-223)

यही है ममता, वह साहचर्य-जन्य स्नेह जो ‘अतिपरिचय के दोष’ से होनेवाला ‘अरुचि-अनादर’ भी मिटा नहीं पाता!हमारी तरफ एक कहावत है कि बुढ़ापे में तो पति-पत्नी का चेहरा भाई-बहन जैसा हो जाता है! बच्चे और सम्पत्ति का साझापन दम्पतियों को उस समय तक भी बांधे रखता है जब देह

के स्पन्दन क्षीण पड़ जाते हैं! साझा सरोकारों से भी अधिक जो बात अधिकतर दम्पतियों को बांधें रखती है - वह है साझा संघर्ष की स्मृतियां! स्मृतियों की आंच ही मनुष्य को मनुष्य बनाए रखती है और घरेलू दायित्वों के अतिरिक्त सामाजिक-राजनीतिक और लेखकीय दायित्व भी साझा रहा हो। अगर तो स्मृतियां सघनतर होती हैं और इन सघन स्मृतियों की आंच में बृहत्तर समाज का चेहरा भी बीच-बीच में सप्राण ढंग से झलक जाता है - इसके कई उदाहरण लेखक पत्नियों की आत्मकथा/जीवनी में भरे पड़े हैं, पर सबसे ज्यादा प्रामाणिक ढंग से नादिया मादालास्ताम, शिवरानी प्रेमचंद, मन्नू भंडारी और ममता कालिया के यहां।

यही है ममता, वह साहचर्य-जन्य स्नेह जो 'अतिपरिचय के दोष' से होनेवाला 'अरुचि-अनादर' भी मिटा नहीं पाता! हमारी तरफ एक कहावत है कि बुढ़ापे में तो पति-पत्नी का चेहरा भाई-बहन जैसा हो जाता है! बच्चे और सम्पत्ति का साझापन दम्पतियों को उस समय तक भी बांधे रखता है जब देह के स्पन्दन क्षीण पड़ जाते हैं! साझा सरोकारों से भी अधिक जो बात अधिकतर दम्पतियों को बांधें रखती है - वह है साझा संघर्ष की स्मृतियां! स्मृतियों की आंच ही मनुष्य को मनुष्य बनाए रखती है और घरेलू दायित्वों के अतिरिक्त सामाजिक-राजनीतिक और लेखकीय दायित्व भी साझा रहा हो। अगर तो स्मृतियां सघनतर होती हैं और इन सघन स्मृतियों की आंच में बृहत्तर समाज का चेहरा भी बीच-बीच में सप्राण ढंग से झलक जाता है - इसके कई उदाहरण लेखक पत्नियों की आत्मकथा/जीवनी में भरे पड़े हैं, पर सबसे ज्यादा प्रामाणिक ढंग से नादिया मादालास्ताम, शिवरानी प्रेमचंद, मन्नू भंडारी और ममता कालिया के यहां!

वैसे तो कोई भी जीवनी सम्राटों और तानाशाहों द्वारा 'मैन्युफैक्चर्ड' इतिहास से अधिक प्रामाणिक दस्तावेज होती है, पर उपर्युक्त जीवनियां और अधिक विश्वसनीय इसलिए हैं कि यहां बतबनौवल नहीं हैं।

पत्नियां स्वयं प्रज्ञावान लेखिकाएं हैं, जीवन-जगत की विडम्बनाओं की अपनी स्वतंत्र समझ है इनकी, इसलिए ये लगातार बहस करती दिखाई देती हैं! 'घोरेबाहिरे' की नायिका की तरह इनकी आधुनिकता 'ड्राइंग रूम' प्रेजेंस तक सीमित नहीं है! खासकर हिंदी का निम्न मध्यवर्ग बंगाली 'भद्रलोक' नहीं है, और इसके ज्यादातर बड़े लेखक वहीं से उभरे हैं। पार्थ चैटर्जी का प्रमेय न शिवपूजन सहाय की पत्नी पर लागू होता है, न शिवरानी देवी पर - यदि फिलहाल स्वयं को नवजागरणकालीन और स्वाधीनता-पूर्व हिंदी समाज तक सीमित रखें:

द होम इज़ अनऐफेक्टेड बाइ द प्रोफेन ऐक्टिविटीज ऑफ द मैटेरियल वर्ल्ड-एंड वुमन इज इट्स रेप्रेसेंटेशन! सो वन गेट्स ऐन आइण्डेंटिफिकेशन ऑफ सोशल रोल्स बाई जेंडर टु करेस्पाण विद द सेपरेशन ऑफ द सोशल स्पेस इण्टू 'घोरे' एंड 'बाहिरे' (कोलोनियलिज्म, नैशनलिज्म एंड कोलानाइज्ड विमेन: द कान्टेस्ट इन इंडिया, 1989) उस काल में हिंदी के दो महत्त्वपूर्ण लेखक ऐसे हुए: (आचार्य शिवपूजन सहाय और प्रेमचंद) जिनकी पत्नियां 'घोरेबाहिरे' की विमला नहीं थीं! उनका कोई 'ड्राइंग रूम प्रेजेंस' नहीं था। हिंदी पट्टी के निम्न मध्यवर्ग में सुसज्जित 'ड्राइंग रूम' की

कोई अवधारणा ही नहीं थी। दुआर पर धरी एक नंगी चौकी, खाट या कुछ (इधर-उधर से उधार लाई) डगमग कुर्सियों पर ही सारी बैठकें जमती थीं, सारी पब्लिक डिबेट्स का अड्डा वही होता था, और शिकंजी-लस्सी-पान इलायची लेकर दुआर से टिकी खड़ी नवशिक्षित पत्नियां, बेटियां और बहनें वहीं से 'जग का मुजरा' लेती हुई पतियों, भाइयों और पिताओं को द्वंद्वसुकुल क्षणों में राह दिखाती थीं! शिवपूजन सहाय और प्रेमचंद ने पत्नी को समय-समय पर जो चिट्ठियां लिखीं, उनके अलावा शिवरानी प्रेमचंद की अनूठी जीवनी यह स्पष्ट करती है कि पब्लिक स्फियर में स्त्रियों की भागीदारी 'घरेबाहिरे' की विमला की तरह परोक्ष ही नहीं, प्रत्यक्ष भी थी।

'प्रेमचंद घर में' के अलावा सुभद्रा कुमारी चौहान की कहानियां भी पिकेटिंग में जेल गईं माताओं/पत्नियों की पीछे छूटी गृहस्थी के बेहतरीन चित्र प्रस्तुत करती हैं। 'प्रेमचंद घर में' तो पत्नी के वियोग में बिल्कुल ही बिखर गये प्रेमचंद का बहुत मार्मिम चित्रण है।

पेट के पुराने रोगी प्रेमचंद गांव-घर, बच्चों के अलावा सामाजिक और साहित्यिक दायित्व निभाते हुए रह-रहकर पत्नी को गहरी कृतज्ञता से याद करते हैं। उनका वियोग उन्हें और भी दुबला कर देता है। एक-एक पैसा जोड़कर गृहस्थी की गाड़ी चलानेवाली शिवरानी देवी उन्हें बच्चों की तरह डांटती हैं - स्वास्थ्य पर ध्यान न देने, अत्यधिक दयालु और मुखदुब्बर होने के कारण कमाई का एक बड़ा हिस्सा उधार मांगकर कभी न लौटाने वाले ठगों पर भी वार देने के प्रश्न पर वे बार-बार उन्हें बरजती हैं। मायानगरी मुम्बई जाकर या साहित्यिक पत्रकारिता और साहित्यिक संस्थानों में तन-मन-धन लगाकर प्रेमचंद कई विफलताओं का मुंह देखते हैं, उन्हें संभालती हुई भी उन्हें कई बार कड़वी-खट्टी सुना देती हैं, और बाद में जब इस सहज चख-चुखपर इन्हें गहरा परिताप होता है, गहन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के साथ वे स्वयं को खुद ही संभालती भी हैं: "श्रद्धा और प्रेम साथ-साथ नहीं चल सकते! श्रद्धा सिर झुकाती है, प्रेम हृदय लगाता है। शायद यही बात है कि दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। मैं अगर उनसे श्रद्धा करती होती तो पान-फूल लेकर दौड़ती। वे मेरे लिए बाजार दौड़कर पान-मिठाई न लाते! सोते समय मुझे उठाकर पानी न पिलाते। मुझे नींद न आने पर मुझे पंखा न झलते! मेरी छोटी से छोटी जरूरतों को दौड़कर वे पूरी न करते!... आज जब वे मेरे नहीं रहे तो वे मेरी श्रद्धा की चीज हो गए हैं! मेरे हाथ अब रह ही क्या गया है। जिस कानून पर इतनी बहस हुई थी, वह उनके मरने के चार महीने बाद पास हुआ।" (165)

जिसे अंगरेजी में 'फॉर ग्रांटेड' लेना कहते हैं, अन्यतम के साथ हुई वह मानसिक धींगामुश्ती मनुष्य को तब काट खाने दौड़ाती है जब वियोग घटित होता है:
'रतना की निंदिया खुलती जब तुलसीदास चले जाते/ रह जाएंगे पथदर्शक, भरमाने वाला जाएगा/ फिर से लौट न पाएगा।' (श्यामनन्दन किशोर)

उत्तर छायावाद यह कसक समझता था: "अपनों की प्यार भरी यादों की खींचतान,/ भूलों की मेरी यह चादरिया मटमैली,/ होगी ही तार-तार,/ मैं नहीं रहूंगा, / फूलेगा हरसिंगार, / मैं नहीं रहूंगा।" (वही)

मृत्यु परिष्कार का दूसरा मौका नहीं देती, शायद इसी कसक के साथ पुनर्जन्म की अवधारणा बलवती हुई होगी कि अगली बार शायद भूल-चूक लेनी-देनी हो जाए! पर भूल-चूक प्रेम में मोह के आधिक्य के कारण ही होती है।

जिस बिल की बात शिवरानी देवी कर रही हैं, शारदा एक्ट है जो विधवाओं को भी पति की सम्पत्ति में हिस्से का प्रावधान कर गया। अंगरेजों के समय स्त्री-हितैषी कई बिल पास हुए: बाल-विवाह निषेध, सती निषेध आदि! स्त्री-प्रश्न औपनिवेशिक शासकों का मनचीता प्रश्न था जिसपर नेटिवों को नीचा दिखाने में काफी सुविधा होती थी! तो विनिवेशन के लिए संकल्पग्रस्त स्वाधीनता सेनानी भी स्त्री-प्रश्न को लेकर सजग हुए, खासकर गांधी जिन्हें आधी आबादी की उद्बोधक शक्ति का उपयोग देश-हित में करना था, इस केन्द्रीय मान्यता के अधीन कि बल का अर्थ यदि पशु-बल है तब तो पुरुष स्त्रियों से अधिक बलशाली हैं, यदि बल का अर्थ मानसिक या नैतिक बल है, तो स्त्रियां पुरुषों से बीस ही हैं, उन्नीस नहीं। खासकर नैतिक उद्बोधन में तो वे बीस हैं हीं।

गांधीजी स्त्री की इस उद्धुर शक्ति का प्रयोग जैसे मैक्रो स्तर पर कर रहे थे, प्रेमचंद जैसे साहित्यकार हिंदी-प्रदेश के निम्न मध्यवर्गीय परिवारों में। वे हर बात पर पत्नी से सलाह करते, घरेलू कामों और बच्चों के पालन-पोषण में भी पत्नी का हाथ बंटाते, घर का आर्थिक संयोजन उनके हाथ में छोड़ते, पत्नी को उन्होंने पढ़ना-लिखना भी सिखाया, राजनीतिक वाद-विवाद में निष्णात किया, जब उनका साहित्यकार रूप निखरा, थोड़ी झिझक के बाद उसे पूरी मान्यता भी दी। इस प्रकार हिंदी पट्टी में स्त्री वैयक्तीयन की प्रक्रिया बंगाल के पहले ही शुरू हो गई थी, पर व्यापक स्तर पर नहीं, कुछ उदार साहित्यकारों के यहां ही।

सिद्ध दांपत्य में पुराने बासमती चावल की गंध जो चली आती है तो बंकिम विनोद-वृत्ति और छोटे-बड़े मुद्दों पर अनौपचारिक गपशप के हजार अभंग सिलसिलों के कारण भी! शुरुआत में बचकानी चीख-पुकार, लप्पड़-थप्पड़ के कुछ शर्मनाक प्रसंग घटे भी हों तो कठिन गृहस्थी का जहाज लम्बा खींच लेने के बाद पति पत्नी में कोई पदानुक्रम नहीं रहता ओर एक मगन आपसदारी ही शेष बचती है। आपस की नोंक-झोंक जीवन का नमक बन जाती है। जैसे बचपन में हथेली पर नमक रखकर इमली के चटकारे लेते थे, बाद के दिनों में अकेला छूटा साथी पुराने परिहासों के चटकारे लेता है: "विश्वविद्यालय-छात्रावास की बगल में एक नहर खुद रही थी! वहीं करीब में एक दरख्त था। उसके नीचे हम लोग बैठे। पहली मीटिंग में उनको फूलों का एक हार दिया गया था! वह हार मुझे पहनाते हुए बोले - 'लो हमारी-तुम्हारी यह खुशी की शादी रही!'

मैं बोली - 'अभी तक आप कुंवारे थे?' लोग समझेंगे गंगा-स्नान करके ये लौटे हैं और यहां बैठकर थकान मिटा लेना चाहते हैं। आप हंसकर बोले - 'गंगा नहानेवालों में न मैं शरीक किया जा सकता हूं न तुम्हीं! देखनेवाले बेवकूफ नहीं होते! और मैंने जो कहा, वही लोग समझेंगे!"

जीवन के आर्थिक और राजनीतिक यथार्थ की खुरदरी जमीन से आपसी हास-परिहास का यह सोता जो बीच-बीच में फूटता रहा तो मन रह-रहकर हरा हो जाता है। देश की आजादी का सपना हजार संघर्षों के बीच भी साथ-साथ मिलकर देखा करनेवाली ये आंखें आगामी जनतंत्र का अग्रकथन आपसी रिश्तों के पदानुक्रम-भंग में कैसे घटित करती है, इसका उत्कट उदाहरण है यह किताब। एक दोस्त-समाज की नींव पति-पत्नी या प्रेमियों की आपसी दोस्ती ओर बाजाप्ता

'बमचख' वाली दोस्ती ही रखती है- आनेवाली नस्लें भी ऐसी स्मृति-वल्लरियों के साक्ष्य पर मुग्ध होती हैं - "अच्छा तो यह जो अकेली वृद्धा खोई-खोई-सी पूरे घर में प्रेत-छाया-सी आज घूमती दीखती है, कभी उसने ऐसा सरस-सार्थक जीवन भी पाया था!"

वजूद तुनक चीज है - घोंसले से भी तुनुक! एक टूटे घोंसले से तिनके चुनकर दुबारा एक आभासी प्रतिसंसार बसाना आसान नहीं रहा होगा। नवजागरणकालीन हिंदी रपट-शैली में तत्कालीन निजी और सार्वजनिक जीवन का अंतरंग चित्र ऐसे बुनती हैं शिवरानी प्रेमचंद जैसे कोई उधेड़कर उल्टे-सीधे फंदों से दुबारा स्वेटर बुने- एक गरम मुलायम स्वेटर आपसदारी का जिस पर महास्वप्न के ऊदे रेशे आद्योपांत बिछे हों: उसकी ऊष्मा दुगुनी करते हुए! दो प्रेमी मिलकर हजार मुसीबतों के बीच भी बृहत्तर समाज के लिए जो महास्वप्न 'देखते हैं तो कैसी आभा से भर जाता है जीवन, इसकी बानगी है यह घरेलू!

कविता और संगीत

संतोष चौबे
कुलाधिपति
रबीन्द्रनाथ टैगोर
विश्वविद्यालय - और
विश्वरंग के संस्थापक

मानव सभ्यता के विकास में एक चरण ऐसा भी था जब कविता और संगीत, कविता और नाटक, कविता और कहानी को अलग-अलग नहीं किया जा सकता था। कहानी भी कविता में ही कही जाती थी। एक पूरा का पूरा युग महाकाव्यात्मक चेतना या गाथा का रहा है जिसमें कहानियां महाकाव्य के रूप में कही गई। रामायण से लेकर आल्हा-ऊदल तक इस अवधारणा के कई उदाहरण दिए जा सकते हैं। और ये सिर्फ हमारे देश में ही नहीं था। अन्य देशों में भी, जैसे ग्रीक साहित्य से, इसी तरह के उदाहरण दिए जा सकते हैं। यह वह समय था, जब मनुष्य प्रकृति के अधिक निकट था, उसमें बसे संगीत को महसूस कर सकता था, जीवन अधिक सरल और सहज था तथा उसमें मानवीय सभ्यता के बचपन जैसा उत्साह था। इस समय में जीवन समग्र था तथा कविता, संगीत और कहानी एक दूसरे से जुड़े हुए थे।

पर आगे चलकर ऐसा नहीं रह सका। सभ्यता और जीवन में विकास के साथ-साथ कविता और संगीत ने धीरे-धीरे स्वतंत्र माध्यम का स्वरूप ग्रहण करना शुरू किया और औद्योगिक समाज की कलात्मक अभिव्यक्ति के दबाव ने गद्य को भी अपना रास्ता अलग पकड़ने को मजबूर किया। कथा और उपन्यास का उदय, विशेषकर उपन्यास का आगमन, पिछले दो तीन सौ वर्षों की ही तो बात है। अब ज़रा संगीत के उद्‌गम को देखें ऐसा माना जाता है, और ये सच भी है कि पूरे ब्रह्मांड और धरती का कार्य व्यवहार निश्चित आवृत्तियों पर चल रहा है। इन आवृत्तियों में ही धरती का संगीत निहित है। हमारे आसपास सरसराते वृक्ष, चहचहाते पक्षी, विभिन्न आवाजों का सृजन करते पशु तथा मनुष्य की अपनी आवाज इन प्रारंभिक ध्वनियों में हैं जिनकी निश्चित आवृत्तियां खोजी जा सकती हैं और जिनसे प्रारंभिक ध्वनियों का सृजन हुआ होगा।

इन प्रारंभिक ध्वनियों और मनुष्य के आंतरिक आल्हाद ने मिलकर कविता तथा संगीत की सृष्टि

की। ग्रामीण समाज से जुड़े लोक संगीत से लेकर शास्त्रीय संगीत तक की यात्रा भारतीय संगीत ने तय की है। लोक संगीत और लोक कविता तो लोक में रची बसी है पर भारतीय शास्त्रीय संगीत की निश्चित शृंखला हमें गुरु-शिष्य परंपरा के माध्यम से प्राप्त हुई है जिसमें भक्ति संगीत या भक्ति भावना पर आधारित कविता का बड़ा योगदान है। ध्रुपद तो भक्ति संगीत है ही, भारतीय रागों के प्रस्तुतीकरण के विभाजन में भी - जिसमें आलाप, जोड़, खयाल, गत और झाला जैसा क्रमिक विकास दृष्टिगत होता है वह सूफियाना दर्शन शामिल है जिसमें ब्रह्मांड के उद्गम, क्रमिक विकास और अंततः विनाश की परिकल्पना की गई है।

भक्ति संगीत के इस विकास में कविता महत्वपूर्ण थी। कविता और संगीत दोनों ही मनुष्य को ईश्वर से जोड़ने का काम करते थे। पर जैसे-जैसे रागों को मौसम से या कि दिन के विभिन्न प्रहरों से या कि मनुष्य के भीतर बहने वाली अलग-अलग भावनाओं से जोड़ने का प्रयास हुआ उसमें कविता गौण होती गई और ध्वनि या मूड्स का महत्व बढ़ता गया। आज के शास्त्रीय संगीत में कविता सिर्फ आलंबन की तरह प्रयुक्त होती है। बाकी सारा कमाल ध्वनियों के सृजन का है। पश्चिमी शास्त्रीय संगीत भी मूलतः प्रार्थना और चर्च के संगीत से निकला हुआ संगीत है जिसमें औद्योगीकरण के साथ-साथ नई तरह की भावनाओं और मूड्स को प्रक्षेपित किया गया।

पुरानी तरह के संगीत में कविता का छंदबद्ध होना आवश्यक था। छंद और संगीत मिलकर एक तरह की मैलोडी की सृष्टि करते थे जो कि मनुष्य को आध्यात्मिक शांति प्रदान करते थे और उसके जीवन को भीतर से संतुलित और समृद्ध बनाते थे। औद्योगीकरण के बाद और शहरी समाज के विकसित होने के साथ-साथ आधुनिक समय के तनावों के बीच न तो जीवन में इस तरह की मैलोडी रह गई है और न ही वैसी कविता और संगीत। जब पुराने तरह की छंदबद्ध कविता आधुनिक समय के दबावों और विचारों को संप्रेषित करने में असफल होने लगी तब नई कविता ने जन्म लिया जिसमें छंद का होना अनिवार्य नहीं है, फिर भी उसमें एक तरह की लय तो होती ही है। इस तरह की कविता को संगीतबद्ध करना कठिन काम है और ये पुरानी तरह की मैलोडी की सृष्टि भी नहीं करती।

वैसे तो शास्त्रीय संगीत में भी बदलाव आया है। लेकिन जो बात मैं कहना चाहता हूँ उसका उदाहरण फिल्म संगीत से ज्यादा अच्छी तरह दिया जा सकता है। भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद एक आदर्श प्रेरित नव निर्माण की लहर चली थी जिसे हम शंकर-जयकिशन के संगीत और उसकी सुरीली ध्वनियों में तथा इसमें प्रयुक्त गीतों में देख सकते हैं। नेहरूवियन युग से मोहभंग को आर.डी. बर्मन द्वारा प्रयुक्त संगीत की बदलती लय में देखा जा सकता है तथा आज के समय की गति को ए.आर. रहमान के संगीत में दृष्टिगत किया जा सकता है जहाँ कविता कई बार अनुपस्थित सी दिखती है।

अगर आज की कविता का संगीत से मेल कराना है तो पहले तो हमें उसकी अंतर्लय को पहचानना पड़ेगा। और उसे ऐसे संगीत से सजाना पड़ेगा जो कविता की अर्थवत्ता में विस्तार करता हो, न कि उसे छुपाता हो। जीवन की जटिलता ने कविता तथा संगीत दोनों को बदला है और वे एक दूरस्थ क्षितिज पर जाकर मिलते जरूर हैं, पर हमें उस क्षितिज की खोज करनी पड़ेगी। कविता को संगीतबद्ध करना इसी क्षितिज की खोज करना है।

अंधेरों की जेब में रोशनी के दस्तावेज़ों का समय है यह

डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी
हृदय रोग विशेषज्ञ और
प्रतिष्ठित व्यंग्यकार

आज का दौर व्यंग्य का है भी और नहीं भी है। आज के जटिल समय को व्याख्यायित करने, समझने और लिखने के लिये व्यंग्य सबसे सटीक हथियार होना था। यह कैसी उलटबांसी है कि जब व्यंग्य सबसे जरूरी था तब ही हमारा व्यंग्यकार खूब लिखते हुये भी व्यंग्य से ही उदासीन सा बैठा है। ऐसा क्यों हो रहा है, हम समझने की कोशिश करेंगे।

व्यंग्य का काम होता है रोशनी की शिनाख्त। यह काम वो अंधेरों की पड़ताल द्वारा करता है, विसंगतियों के अंधेरे जो समाज के कोने कोने में व्याप्त हैं, जहां जगमग तो बहुत है परंतु अंधेरे और उजाले के बीच फर्क करना कठिन होता जा रहा है। अंधेरे अब और चालाक हो गये हैं; उन्होंने रोशनी का आइडेंटिटी-कार्ड भी हथिया लिया है। रोशनी की शिनाख्त कैसे हो? शिनाख्त करो भी तो कोई मानने को राजी नहीं। यह उजालों के लिये खराब समय है, व्यंग्य के लिये भी बेहद कठिन कि वह उजालों के प्रतिबद्ध होता है। असहिष्णुता के अंधेरों ने अपने नाम बदल लिये हैं। अंधेरों के सर पर अब परंपरा, धर्म, संप्रदाय और राष्ट्रीयता के रोशन हंडे रखे हुये हैं; अगर इन पर व्यंग्य लिखा तो आरोप आयेगा कि तुम रोशनी के खिलाफ हो।

पिछली शताब्दी के अंधेरे इतने शातिर नहीं थे; उनको अंधेरे के रूप में ही पहचाना जा सकता था। विसंगतियों की पहचान में कोई भ्रम नहीं था। इस तरह देखें तो व्यंग्य लिखना जटिल न था। इक्कीसवीं शताब्दी आते आते अंधेरों ने शिनाख्त बदल ली। उनका दावा है कि वे ही असल रोशनी हैं। अंधेरों ने नाम बदल लिये हैं - विकास, वैश्वीकरण, बाज़ार, धर्म, परंपरा, संप्रदाय, राष्ट्र गौरव, जाति गौरव, और ऐसे ही अनेक आदरणीय नाम। इस सदी की सबसे बड़ी चालाकी है, और त्रासदी भी। व्यंग्य में अगर इन अंधेरों को तुम अंधेरा कहोगे तो वे तुमको दकियानूसी और विकास विरोधी कह सकते हैं। रोशनी की शिनाख्त के साथ ऐसी व्यापक छेड़छाड़ पहले कभी नहीं हुई, राष्ट्रवाद कबीलाई सोच में बदल गया है। हम पहले से ज्यादा असहिष्णु हुये हैं। सांप्रदायिक होने को हम वर्तमान की अनिवार्य नियति मानने लगे हैं। जब 'वे''ऐसे हैं तो 'हम' भी ऐसे ही न हों - यह हमारी मूर्खता कहलायेगी।

जीवन मूल्यों के बुनियादी अर्थ बदलने की कोशिश युद्धस्तर पर चल रही है। यह सदी अंधेरे में खड़े होकर रोशनी पर तकरीरों की सदी बनती जा रही है। वे शातिर लोग ही रोशनी का संकल्प ले रहे हैं जो इन अंधेरों के लिये जिम्मेदार हैं। कहते हैं कि उस तरह की रोशनी का समय अब खत्म हुआ, विचार की मौत हो चुकी है। अब अंधेरे प्रकाश को ट्रोल कर रहे हैं और प्रकाश भगा भगा फिर रहा है। अंधेरे को अंधेरा कहो तो वे सोशल मीडिया, प्रिंट मीडिया और सड़क पर खदेड़ सकते हैं कि तुम रोशनी को जानते ही कितना हो?

साहित्य का पाठक इधर रचे गये अधिकांश व्यंग्य पढ़कर दिग्भ्रमित है कि इसमें समकाल की तस्वीर क्यों नहीं दिखती? सवाल यह भी उठता है कि आज का व्यंग्यकार स्वयं ही अंधेरे और उजाले के बीच के फर्क को ठीक से समझ भी पा रहा है या नहीं? उसकी तमन्ना है भी यह सब समझने की

या नहीं? या उसके पास वह दृष्टि ही नहीं जो इस तेजी से बदलते समय को ठीक से देख समझ सके? पत्थर की आंख कितनी भी खूबसूरत हो, उसमें दृष्टि नहीं होती। व्यंग्य रचना का भी यही सिद्धांत है - जीवन को लेकर स्पष्ट दृष्टि न हो तो व्यंग्य बस पत्थर की आंख बनकर रह जाता है; रचना भाषा और शैली में सुंदर दिखती है पर उसमें व्यंग्य होता नहीं।

महावीर प्रसाद द्विवेदी जी की हजारों बार उद्धरत उक्ति है कि साहित्य समाज का दर्पण है। यह बड़ा कैची सा वाक्य है, साहित्यिक महफिलों में इसे कहीं भी निरापद ढंग से बोला जा सकता है। आज से लगभग अठारह साल पहले मैंने इसी मेटाफर का सहारा लेकर समकालीन व्यंग्य पर अपनी चिंता व्यक्त करते हुये लिखा था कि यदि साहित्य समाज का दर्पण है तो समकालीन हिंदी व्यंग्य के दर्पण में कुछ दिखता क्यों नहीं, यह दर्पण दोनों तरफ से काला क्यों है? मैंने यह भी पूछा था कि इसे काला किसने किया है?

ये कौन नासमझ हैं जो हिंदी व्यंग्य में घुस आये हैं? हमने क्यों इन्हें व्यंग्यकार मान लिया? हम समझते क्यों नहीं कि काले दर्पण वाले ये लोग व्यंग्य के विशुद्ध व्यापारी हैं। इनको परवाह नहीं कि दर्पण में जब अंधेरा ही अंधेरा दिखेगा तो उसकी पहचान खत्म हो जायेगी। अपने एक लेख में मैंने कुछ ऐसे ही असहज करने वाले सवाल उठाये थे, जिसे विष्णु नागर जी ने नव दुनिया दिल्ली में छापा था। इसके छपने के बाद कुछ मित्र गलतफहमी में पड़े, बहुत से तिलमिलाये भी। मुझे यहां वहां खदेड़ा भी गया कि ऐसा लिखकर मैं तो पूरे समकालीन व्यंग्य को ही खारिज कर रहा हूं। अच्छा लिखने वालों को गलतफहमी हुई कि मैं इसमें उनको भी शामिल कर रहा हूं। बहरहाल। बात, आई गई हो गई। दर्पण वही रहा, पोतने वाले पोतते रहे - स्थिति वही रही, सवाल वही रहे; लोग ठाठ से उसी तरह का व्यंग्य न केवल लिखते रहे, चर्चित भी हुये। मेरे उठाये सवाल अरण्यरोदन बनकर रह गये।

इन उत्तरों के लिये हमें अपने ही गिरेबान में झांकना होगा जो कोई नहीं चाहता। आज के व्यंग्य में समकालीन समाज के अंतर्विरोध और अवगुंठन, चुनौतियां और पलायन, टुच्चई और बढ़प्पन उस तरह नहीं दिखते। इसीलिये यह कुछ लोगों के बीच का वाग्विलास बनकर रह गया है - छोटे छोटे अखबारी कारणों, और सोशल मीडिया ग्रुप्स में सीमित। हम लाख दावा करें कि हम विसंगतियों पर करारा प्रहार कर रहे हैं, हमने फलाने कालम में कितना जोरदार लिखा है और सोशल मीडिया पर कैसी वाह वाह मची हुई है परंतु कड़वा सच यही है कि यह सब हमारी नादान चालाकियां हैं, बस। जो दिखे उसे दर्पण जैसा उतार देने से कविता नहीं बन जाती, न कहानी, न व्यंग्य; इसी बिंदु पर साहित्य दर्पण से अलग हो जाता है। व्यंग्य उस दृश्य के अनदेखे पहलू सामने लाकर उसे संपूर्णता में समझाता है। व्यंग्य पढ़कर पाठक समझ सके कि रोशनी में कितने निचाट अंधेरे छुपे हैं - यही व्यंग्य लेखन की सार्थकता कहलायेगी।

सच्चा व्यंग्य बयानबाजी से परे की चीज है। हर बयान को एक गहन अनुभव में बदल देने की कला ही व्यंग्य है। यथार्थ, कल्पना और संवेदना की रासायनिक क्रिया से जो अद्भुत रसायन बनता है, वह व्यंग्य है। साहित्य समाज का दर्पण ही नहीं, वो आतिशी शीशा और सूक्ष्मदर्शी यंत्र भी है।

तो फाइनली, समकालीन व्यंग्य लेखन का दर्पण दोनों तरफ से काला है या नहीं? है भी, नहीं भी। आज के समय में कुछ तो सचमुच के व्यंग्यकार हैं तो बहुत से तथाकथित व्यंग्यकार भी हैं। तथाकथितों का बढ़ चढ़कर दावा रहता है कि उनके दर्पण में सब कुछ साफ साफ दिखता है - देखो

न, वो रही विसंगति और वो देखो कि मैंने विसंगति पर कैसी चोट की है! वे चाहते हैं कि हम इसी काले दर्पण में झांकें, वाह वाही करें, मैं कहूंगा कि ये लोग बहुत भोले लोग हैं या बहुत शातिर या फिर परम भ्रमित। कहने को तो ऐसे तथाकथित रचनाकार हर विधा में होते हैं परंतु समकालीन व्यंग्य में ये लोग ही मुख्य धारा बन बैठे हैं। हिंदी में आज भी कुछ बहुत अच्छा व्यंग्य लिखा जा रहा है; परसाई के बाद व्यंग्य की धरती वीरों से उस तरह सूनी नहीं हुई है जैसा कि ये तथाकथित बतलाया करते हैं। जेनुइन व्यंग्यकारों को हतोत्साहित करने के बड़े इंतजाम हैं इन व्यंग्यबाजों के पास। व्यंग्य के नाम पर ये खुद विशुद्ध सपाटबयानी करते हैं, अजीबो-गरीब रच कर उसे ही असली व्यंग्य साबित करने के लिये व्यंग्यशास्त्र की सारी परिभाषाएं नये सिरे से गढ़ने पर आमादा हैं। ये नहीं चाहते कि अच्छा व्यंग्य चर्चित हो। ये गोष्ठियों, पुरस्कार समितियों और परसाई के नाम के सोंटे घुमाकर, अललटप्पू फतवेबाजी के ब्रश से व्यंग्य के दर्पण को नित्य और काला पोत रहे हैं। इस तरह ये लोग विशुद्ध हुल्लड़बाजी के पैतरों से व्यंग्य का मंच हथियाने पर आमादा हैं। इन्होंने देश में परसाई कीर्तन मंडलियां बना रखी हैं।

न इन्होंने कभी परसाई को ठीक से पढ़ा, न किसी और पूर्वज को भी परंतु व्यंग्य के पुश्तैनी मकान पर कब्जा करने की जबरदस्त तमन्ना है इनकी। ये मानते हैं कि परसाई को पढ़ने से ज्यादा माहात्म्य उनका नाम जपने में है। इनको नहीं पता (या शायद पता हो) कि ये उस व्यंग्य का कितना नुक्सान कर चुके हैं जो परसाई, शरद जोशी, रवीन्द्र नाथ त्यागी, श्रीलाल शुक्ल, लतीफ घोंघी और शंकर पुणतांबेकर आदि के विपुल और विलक्षण लेखन के कारण विधा बनने की कगार पर ही था। अपनी हरकतों से ये उस व्यंग्य को सपाटबयानी, दोहराव और वैचारिक दरिद्रता के कीचड़ में घसीट लाये हैं, जिसमें अधकच्चे व्यंग्य संग्रहों के भव्य विमोचनों के कमल तैर रहे हैं और पोची किताबों पर प्रायोजित चर्चाओं और उनके बेशर्म हल्ले के बुलबुले फूट रहे हैं। कुछ तो गर्व से कहते भी हैं कि पढ़ने में समय खराब करेंगे तो खुद हम कब लिखेंगे! रचनाएं सपाट बयान जैसी हों परन्तु ठाठ से छपें, दुगने ठाठ से वे पुरस्कृत भी हों, सोशल मीडिया पर उनकी खासी वाह वाही हो, विभिन्न अकादमियों, ट्रस्टों और लेखक गुटों पर ऐसों का कब्जा हो जाये, बस; व्यंग्यबाणों को और क्या चाहिये! इसी के चलते समकालीन व्यंग्य मानो विट, ह्यूमर, व्यंजना और विचार की तरफ पीठ करके बैठ गया है और घनघोर अपठनीय और सतही बनता जा रहा है। ऐसा व्यंग्य अब येन-केन प्रकारेण छपने में ही अपना मोक्ष मान रहा है।

ऐसे समय में एक सार्थक व्यंग्यकार क्या करे? हम तो यही कहेंगे कि निराश न होकर वह इस स्थिति को एक चुनौती के तौर पर ले।

इस जटिल समय को गहराई से समझे, फिर व्यंग्य लिखे, परसाई या शरद जोशी की नकल में न लिखे। उनसे व्यंग्य लेखन का सौंदर्यशास्त्र सीखें पर लिखें अपना ही।

आज की वैचारिक, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक चुनौतियां बीसवीं सदी से बहुत अलग हैं, इन्हें साहित्य के दर्पण में उतारना समकालीन व्यंग्य के लिये एक अलग तरह की बड़ी चुनौती है। आज के व्यंग्यकार को अपने भाषिक और शैलीगत उन्हीं औजारों का पुनराविष्कार करना होगा। आज परसाई भी जीवित होते तो वैसा न लिखते रहते जैसा लिखकर वे बड़ा बने थे - वे अपने व्यंग्य के विषय, भाषा और चिंतायें बदल डालते। वे खुद को इस तरह बदलते कि आज का समय उनके लेखन की मुट्ठी में आ जाये। पर हम हैं कि बदलने को राजी नहीं; हम चुटकुलेबाजी, सपाटबयानी,

स्टेंड अप कामेडीनुमा व्यंग्य लिखने में ही बुरी तरह उलझे हुये हैं।

परंपरागत कविता और कहानी में नई गढ़ंत के जरिये जो नई तरह की कविता और कथा इन दिनों आ रही है उसमें अपने समय को समझने की एक सार्थक कोशिश है। पर हमारा हिंदी व्यंग्य है कि उसी पुराने समय में जिद के साथ ठहरा हुआ है, वह खुद अपनी हर लेखकीय कमजोरी और अंधेरगर्दी को परसाई के पीछे छुपाता है। उसकी इस दयनीय चालाकी ने इक्कीसवीं सदी के हिंदी व्यंग्य का बड़ा नुक्सान किया है। बहरहाल, अकबर इलाहाबादी के शेर को थोड़ा बदलकर कहें तो 'रंज हुक्काम को बहुत है मगर आराम के साथ' - जिन कारणों से मंच की कविता का पतन हुआ वे सभी सामने दिख रहे हैं परंतु आखिरी समाचार मिलने तक हिंदी व्यंग्य की बस्ती में सभी मज़े में हैं। खुदा खैर करे।

AI जनित मशीनी लेखन

अभिषेक त्रिपाठी
बेलफास्ट, आयरलैंड

आधुनिक युग में कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) ने विज्ञान, तकनीक, चिकित्सा और शिक्षा जैसे क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाए हैं। अब यह कला और साहित्य जैसे रचनात्मक क्षेत्रों में भी अपनी उपस्थिति दर्ज करा रहा है। हिंदी साहित्य, जो भावनाओं, संस्कृति और भाषाई समृद्धि का प्रतीक है, भी AI के प्रभाव से अछूता नहीं रहा है। AI ने लेखन को सरल बनाया है, किंतु यह रचनात्मक लेखन में मानवीय संवेदनाओं और भावनाओं को समझने में सक्षम नहीं है। AI में "छठी उंगली" की समस्या पैटर्न से सीखने की सीमा और उसकी अनुचित व्याख्या का एक उदाहरण है। AI का हिंदी भाषा पर नियंत्रण सीमित है और उसमें आंचलिक वर्तनी तथा व्यवहारिक शब्दावली का अभाव है। हिंदी में अवधी, बुंदेली, भोजपुरी, हरियाणवी, दक्खिनी जैसे आंचलिक प्रभावों के बीच अंतर करना AI के लिए बहुत कठिन है।

AI-आधारित उपकरण लेखकों के लिए सहायक सिद्ध हो रहे हैं। ये उपकरण व्याकरण सुधार, शब्द चयन और वाक्य संरचना में सुधार कर लेखन को परिष्कृत करते हैं। रचनात्मक अवरोध (Writer's Block) के समय AI कथानक विकसित करने और पात्रों का व्यक्तित्व गढ़ने में भी मदद कर सकता है। हिंदी साहित्य में, जहाँ सांस्कृतिक संदर्भ और परंपराएँ कहानियों में गहराई लाते हैं, वहाँ AI उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

प्राकृत भाषा प्रसंस्करण (NLP) में निरंतर नए शोध हो रहे हैं जिनसे AI को मनुष्य की भाषा समझने और वार्तालाप करने में प्रवीणता मिल रही है। इस कुशलता का परिणाम हमें दैनिक जीवन में AI असिस्टेंट, चैटबॉट, AI रोबोट के सफल अनुप्रयोगों में दिख रहा है। AI भाषा को जितनी गहराई से समझेगा साहित्य में भी इसका अवदान उतना ही उपयोगी होता जाएगा। इन सभी सहयोगी अवयवों के बावजूद इस तकनीक में कुछ मूलभूत कमियाँ हैं, जो इसे रचनात्मक लेखन का पूर्ण विकल्प बनने से रोकती हैं।

मशीनें हृदय से नहीं लिखतीं

साहित्य में विभिन्न प्रकार के रस लेखन को जीवंत बनाते हैं। ये तत्व लेखक के अनुभवों और संवेदनाओं से जुड़े होते हैं, जिन्हें AI पूरी तरह से समझने और व्यक्त करने में असमर्थ है। रहीम के दोहों की आध्यात्मिक गहराई या प्रेमचंद की कहानियों की मानवीय संवेदना को दोहराने में AI सक्षम नहीं है। मशीनें डेटा और पैटर्न पर आधारित हैं, लेकिन वे मानवीय भावनाओं और जीवन अनुभवों की महीनता को आत्मसात नहीं कर पातीं। AI द्वारा उत्पन्न भावनात्मक सामग्री अक्सर सतही या अतिनाटकीय लगती है। यह भावनात्मक भाषा की नकल तो करता है, लेकिन जटिल भावनाओं को गहराई से समझने में असमर्थ रहता है, जिससे कहानी में भावनात्मकता की कमी हो जाती है।

मौलिकता की कमी

AI अपने प्रशिक्षण डेटा पर निर्भर करता है, जो पहले से मौजूद साहित्यिक सामग्री से लिया जाता है। LLM या लार्ज लैंग्वेज मॉडल एक बड़े डेटासेट के माध्यम से प्रशिक्षित किए जाते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि AI नई और मौलिक रचनाएँ उत्पन्न करने में असमर्थ है। ये उन रचनाओं के जैसे अच्छी रचनाएं तो बना सकता किंतु कुछ मौलिक करने में असमर्थ है। उदाहरण के लिए यदि इसे तुलसीदास की शैली में लिखने के लिए कहा जाए तो AI उनके रचनात्मक सार को नहीं समझ पाएगा, बल्कि उनके लेखन का अनुकरण मात्र करेगा।

संवेदनाओं से दूर

हिंदी साहित्य सांस्कृतिक संदर्भों और परंपराओं से समृद्ध है। “प्रेम” और “विवाह” जैसे विषयों के संदर्भ में AI शब्द तो दे सकता है, लेकिन उन शब्दों के पीछे छिपे भावनात्मक और सांस्कृतिक अर्थों को समझने और व्यक्त करने में यह असमर्थ रहता है। यह केवल प्रतिक्रियाओं का अनुकरण कर सकता है और भावनाओं का विश्लेषण कर सकता है, लेकिन इसमें वास्तविक भावनाएँ, चेतना या आत्म-अनुभूति नहीं होती।

AI में "छठी उंगली" की समस्या

AI में "छठी उंगली" की समस्या तब होती है जब इमेज जनरेशन मॉडल इंसानों के हाथ बनाते समय गलती से छह या उससे ज्यादा उंगलियाँ बना देते हैं। यह समस्या AI की जटिलता और डेटा पैटर्न की गलत व्याख्या से जुड़ी है। जब AI को लाखों तस्वीरें सिखाई जाती हैं, तो हाथों की बारीक संरचना को सटीक रूप से समझना कठिन होता है। इमेज बनाते समय AI पिक्सल-टू-पिक्सल अनुमान लगाता है, और हाथ जैसे जटिल पैटर्न में यह अनुमान गड़बड़ा जाता है, जिससे उंगलियों की संख्या गलत हो जाती है।

इसी तरह AI अक्सर लंबे लेख में वाक्यों, विचारों या संरचनाओं को दोहराता है। चूंकि यह शब्द दर शब्द अनुमान लगाता है, इसलिए कई बार यह नई कल्पना लाने के बजाय एक ही बात को बार-बार दोहराता है। AI कहानियाँ गढ़ सकता है, लेकिन कभी-कभी यह कथानक, पात्रों के गुण या सीमा

को भूल जाता है। पात्रों के नाम बदल सकते हैं, स्थान बदल सकते हैं या महत्वपूर्ण घटनाओं में विरोधाभास भी हो सकता है।

भविष्य की संभावनाएं

AI साहित्य को डिजिटल युग में प्रासंगिक बनाए रखने में मदद कर रहा है। ई-पुस्तकें, ऑडियोबुक और ऑनलाइन साहित्यिक मंचों पर AI-जनित सामग्री तेजी से लोकप्रिय हो रही है। स्वचालित अनुवाद के माध्यम से हिंदी साहित्य को वैश्विक मंच पर पहुँचाया जा रहा है। हालाँकि, यह पारंपरिक लेखकों के लिए चुनौती बन सकता है। यदि मशीनें तेज़ी से और कम लागत पर रचनाएँ उत्पन्न करेंगी, तो पारंपरिक लेखकों की आजीविका और साहित्यिक पहचान खतरे में पड़ सकती है।

भविष्य में, AI के और संवर्धित तथा आत्मसचेत अवतार हिंदी भाषा और इसके सांस्कृतिक संदर्भों को और गहराई से समझने में सक्षम हो सकता है। इसके माध्यम से मानव और मशीन के बीच सहयोग से हाइब्रिड रचनाएँ उत्पन्न हो सकती हैं, जहाँ लेखक भावनात्मक गहराई और विचार देंगे, और AI कथानक और संरचना को रूपरेखा देगा। AI साहित्य को अधिक सुलभ बनाकर लेखन को लोकतांत्रिक बना सकता है, जिससे विविधता और समावेशिता को बढ़ावा मिलेगा। हालाँकि, यह महत्वपूर्ण है कि AI और मानव रचनात्मकता के बीच संतुलन बनाए रखा जाए, ताकि साहित्य की आत्मा और मौलिकता सुरक्षित रह सके। भविष्य में, मानव रचनात्मकता और AI के बीच संतुलित सहयोग से हिंदी साहित्य में एक स्वर्णिम युग की शुरुआत हो सकती है।

हालाँकि, इस यात्रा में यह आवश्यक है कि साहित्य की आत्मा को मशीनों के हाथों में पूरी तरह न सौंपा जाए।

वातायन
vatayan

प्रवासी महिला कथा लेखन - अवधारणा और स्वरूप

डॉ. दीक्षा गुप्ता
बंगबासी इवनिंग कॉलेज,
कोलकाता, पश्चिम बंगाल

जब मैंने शोध करने के विषय में सोचना शुरू किया तभी से ही मेरे मन में यह बात तय थी कि मुझे महिला कथाकारों पर ही काम करना है। परंतु यह नहीं सोचा था कि भारत के बाहर भी एक ऐसी दुनिया है जहाँ स्त्री लेखिकाएँ बहुत ही सजगता से लिख रही हैं तथा हिन्दी को वैश्विक पहचान दे रही हैं। शोध कार्य के दौरान मैंने अनुभव किया कि जिस पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों के लिखे को हमारा हिन्दी साहित्य का इतिहास भी दो-चार नामों से ज्यादा गिना नहीं पाता है, वहाँ भारत के बाहर बसे भारतीय, विशेष रूप से स्त्रियाँ, हिन्दी साहित्य को समृद्ध करने में अपनी विशिष्ट भूमिका निभा रही हैं। अच्छी बात यह है कि वर्तमान समय में इंटरनेट की सुविधा ने उनकी लेखनी को ओझल होने से बचाया है। उनका साहित्य पत्रिकाओं, ब्लॉग और सोशल माध्यम से पूरे विश्व में अपना लोहा मनवा रहा है। यही कारण था कि मैंने अपने शोध का विषय 'प्रवासी महिला कथा लेखन अवधारणा और स्वरूप' चुना। हिंदी भाषा को वैश्विक पहचान दिलाने में भी प्रवासी साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

मैंने जब शोध करना शुरू किया तो सबसे पहले प्रवासी लेखिकाओं की पुस्तकों का संग्रह करना शुरू किया, कुछ ऑनलाइन मिल गईं तो कुछ प्रकाशकों से मँगवा लीं। ऑनलाइन पत्रिकाओं - अभिव्यक्ति, वागर्थ, विभोम स्वर, प्रवासी पुत्र – बहुत काम आईं; साथ ही ब्लॉग के माध्यम से भी मैंने रचनाओं का संग्रह किया। कोरोना काल में लॉकडाउन की वजह से बहुत सी संगोष्ठियां ऑनलाइन आयोजित की जा रही थीं, जिसमें मैंने कई प्रवासी रचनाकारों को सुना, मेरी बहुत सी दुविधाओं का समाधान हुआ। तेजेंद्र शर्मा जी की फ़ेसबुक लाइव पर प्रवासी साहित्य की अवधारणा पर वक्तव्य सुनने का भी अवसर मिला, जिसके बाद से मेरा उनसे परिचय हुआ। उन्होंने मेरा मार्गदर्शन किया। मैंने अपने शोध में जिन दस प्रवासी महिला कथाकारों को चुना, वे हैं – स्वर्गीय डॉ. सुषम बेदी, सुधा ओम ढींगरा, ज़किया ज़ुबेरी, दिव्या माथुर, डॉ. पुष्पिता अवस्थी, उषा राजे सक्सेना, पुष्पा सक्सेना, सुदर्शन प्रियदर्शनी, अरुणा सब्बरवाल और कादंबरी मेहरा। इन सभी से मेरी वॉट्सऐप और फ़ेसबुक के ज़रिए बातचीत होती रही; सभी से प्रेरणा मिली, सभी ने मेरा बहुत ही स्नेह के साथ मार्गदर्शन किया।

वातायन-यूके और वैश्विक हिंदी परिवार की साप्ताहिक संगोष्ठियों से निरंतर जुड़े रहने की वजह से मैं प्रवासी संसार से अच्छी तरह से परिचित होती चली गई; उनके लेखन के स्वरूप, शैली, स्वभाव को अच्छी तरह समझ पाई। प्रत्येक रचनाकार की अपनी विशिष्ट लेखन पद्धति है, स्वभाव है, अलग व्यक्तित्व है। सुषम बेदी जी की आत्मकथा और उपन्यासों के माध्यम से मेरा उनसे भी अच्छा परिचय हो गया।

शोध के दौरान मुझे जिन चुनौतियों का सामना करना पड़ा, उनमें मुख्य थी पुस्तकों की उपलब्धता। पुस्तकालयों में आज भी प्रवासी साहित्य अनुपलब्ध है। फिर अध्यायों का आरंभ और विस्तार कैसे किया जाए, भाषागत समस्याओं से जूझना, कहानियों के स्वरूप, शिल्प

और स्तर के मानक तय करना, भारत और विदेश में लिखे जा रहे साहित्य के अंतर को चिह्नित करना भी मेरे लिए बड़ी चुनौती थी, क्योंकि मुझे प्रवासी साहित्य पर शोध करने की ज़रूरत को साबित करना था। प्रवासी साहित्य हिन्दी साहित्य का ही एक अहम हिस्सा है, इसी की स्वीकृति के लिए प्रयास करती रही हूँ। भारतीय और प्रवासी महिला साहित्य में अंतर और विशिष्टता को खोजना मेरे शोध का मुख्य विषय रहा है।

निष्कर्षतः स्त्री कथाकारों का लेखन ही प्रतिकार का प्रतीक है। प्रवासी लेखिकाओं ने अपने लेखन में स्त्री-अस्मिता, संघर्ष, परिवार, विवाह, समाज, समलैंगिकता, यौन-संबंध, स्त्री-पुरुष संबंध आदि पर जो प्रश्न उठाए हैं, उनके माध्यम से भारतीय समाज में व्याप्त अप्रत्यक्ष समस्याओं को भी अच्छी तरह देखा जा सकता है; विदेश के प्रति मोह का भ्रम भी टूटता है। भारतीय स्त्री अपनी अस्मिता और अधिकारों के लिए आज भी संघर्षशील है। वह मन से भारतीय है, अपने संस्कारों और मूल्यों से सदैव बंधी।

छन्द-सलिला: दोहा

प्रो मधु चतुर्वेदी
प्रोफ़ेसर
श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय

हिन्दी काव्य के विविध छन्दों की संरचना की शृंखला के अंतर्गत इस बार प्रस्तुत है बहुग्राह्य व बहुप्रिय छन्द दोहा। पूर्व कि दोहे की संरचना के बारे में कुछ विचार किया जाये, यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि यहां हम किसी भी छन्द संरचना के नितान्त शास्त्रीय स्वरूप की मीमांसा करने नहीं जा रहे हैं। हमारा प्रयास केवल यह है कि नवसर्जकों को सरल किन्तु शुद्ध सर्जन हेतु कुछ सहजगम्य दिशा-निर्देश दिये जा सकें।

दोहा एक अर्द्धसममात्रिक छन्द है। अब यह समझें कि जिन छन्दों के सभी चरणों में समान संख्या में मात्राएं प्रयुक्त होती हैं वे सममात्रिक व जिनके कुछ चरणों में एक और कुछ चरणों में दूसरा गणना विधान होता है वे अर्द्धसममात्रिक होते हैं। जैसे दोहे की दो पंक्तियों में चार चरण होते हैं। प्रथम और तृतीय चरण में तेरह मात्राएँ और द्वितीय और चतुर्थ चरण में ग्यारह मात्राएँ होती हैं। इस तरह दोनों पंक्तियों में चौबीस-चौबीस मात्राएँ होती हैं।

पूर्ण पंक्ति में जहाँ यति अर्थात विराम लिया जाता है वहाँ तक एक चरण होता है। दोहे के प्रथम व तृतीय चरण में तेरहवीं मात्रा पर यति होती है। अब यह जानें कि मात्राएं कैसे गिनें। स्वरों में अ, उ, इ, ऋ व सभी व्यञ्जन लघु माने जाते हैं। आ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ और वे सभी व्यञ्जन जिन पर इन स्वरों की मात्राएं लगती हैं वे दीर्घ माने जाते हैं। लघु की एक व दीर्घ की दो मात्राएं गिनी जाती हैं। दोहे के प्रथम व तृतीय चरण का अन्त सदैव लघु, दीर्घ यानि ।S से (। का चिन्ह लघु व S का चिन्ह दीर्घ हेतु प्रयुक्त होता है) होना चाहिए वहीं द्वितीय व चतुर्थ चरण का अन्त S । से होना चाहिए। दोहे का प्रारम्भ प्रायः । । । या ।S से नहीं होना चाहिए। प्रारम्भ में S ही आना चाहिए। वैसे इस नियम का अपवाद भी मिलता है।

दोहे की दोनों पंक्तियों के अन्त में तुकान्त आवश्यक है किन्तु समान्त नहीं होना चाहिए। पाठकगण नीचे दिए गए उदाहरण से तुकान्त व समान्त का भेद समझ सकते हैं।
तुकान्त: काल - पाल
समान्त: चाल - चाल या - आनन्द - नन्द
तो ये हैं दोहा छन्द की संरचना के कुछ आधारभूत नियम जिनका सहज निर्वाह कर इच्छुक रचनाकार शिल्प के स्तर पर शुद्ध दोहे का सृजन कर सकते हैं। किन्तु मात्र शिल्प का ज्ञान उत्तम रचना प्रस्तुत नहीं कर सकता। उसके लिये समुचित तथ्य, कथ्य व उनकी सार्थकता भी परम आवश्यक है।

उदाहरणार्थ मेरे दो दोहे प्रस्तुत हैं:
लाभ-हानि का आकलन, कर न सके अनुराग।
भावों को आता नहीं, जोड-गुणा ऋण-भाग।।
आँगन वाले नीम पर, आकर अटका चाँद।
रात कुलाँचें मारती, गली गयी है फाँद।।
मुझे आशा है कि मेरा यह आलेख नव दोहाकारों का सम्यक् मार्गदर्शन कर सकेगा। मिलते हैं अगले अंक में किसी अन्य छन्द के साथ।

डॉ. दिविक रमेश
सुप्रतिष्ठित साहित्यकार

हम गाएँगे, सब गाएँगे

गाँव
गाँव के पास नदी
नदी में नाव
नाव पे देखो
हरखू सवार
हाथ में देखो
पकड़ी पतवार

गाँव
गाँव के पास नदी
नदी का किनारा
किनारे खड़ा श्यामू
हरखू का वह तो
बस पक्का यार

हरखू ने देखा
श्यामू को देखा
हिलाया हाथ, हिली पतवार
नाव को जैसे
मिल गए पाँव

श्यामू ने गाया
गाने लगा तट
गाने लगे वृक्ष
आसमान में देखा
गा रहे थे पक्षी
उड़ते-उड़ते, बाँध कतार
गा रहा था गीत
नदी में नाव खेता
हरखू भी झूम-झूम
श्यामू का यार

गा रही थीं गीत
लहरें भी उछलती
कुछ मचलती सी
गा रही थी नदी
जा रही थी मानो
आवाज़ आकाश तक
गा उठा आकाश भी

गा रही थी उधर
गिलहरी
पेड़ पर चढ़ती
गा रही थी हवा
गा रही थी मानो
हिल हिल कर घास भी

देखो तो
गा रही थी पतवार भी
और कहाँ पीछे थी नाव भी।

सोचा हरखू ने, सोचा श्यामू ने
गाएगा सूरज भी, गाएगा चाँद भी
गाएँगे तारे भी
गाएँगे बादल भी, गाएगी वर्षा भी

हम गाएँगे, सब गाएँगे
हम होंगे खुश, होंगे सब खुश।

अपनी कहें हमारी सुन लें

अगर चाहती माँ हम तुमको
प्यारी-सी चुम्मी लेने दें
तो माँ हमको भी तो अपनी
बात जरा मन की कहने दें।

अगर चाहती माँ हम तुमको
खूब चैन से सोने दें ना।
तो घर में माँ जरा हमारी
भी तो मर्जी चलने दें ना।

हाँ माँ कुछ भी नहीं कहेंगे
जितना चाहे गले लगा लो।
पर माँ हम भी कब क्या चाहें
इसका भी तो पता लगा लो।

माँ हम तो बस इतना चाहें
हमें दोस्त सब अपना समझें।
हम छोटे हैं, आप बड़े हैं
अपनी कहें, हमारी सुन लें।

बिल्ली और गीदड़

शिखा वार्ष्णेय
लंदन, ब्रिटेन
पत्रकार और साहित्यकार

एक जंगल था; जिस पर कुछ तथाकथित बलशाली जीवों ने सभी अच्छे और फलदायक इलाकों पर कब्ज़ा कर रखा था। इसकी रखवाली भेड़िये सियार किया करते थे, इस काम में कुछ लोमड़ियाँ भी इनका साथ दिया करतीं थीं, जिसके कारण छोटे छोटे जानवरों को कभी-कभी इन इलाकों में घुसने और वहाँ के फलों का रसपान करने का मौका मिल जाता था, जिसके लिए वे अपने आपको धन्य मानते।

इसी जंगल में कुछ बिल्लियाँ भी रहती थीं, काबिल, खूबसूरत, प्रतिभावान और चालाक; जिनसे रखवालों और उनके साथियों को डर लगा रहता था। न जाने कब ये बिल्लियाँ उनके इलाकों में दाखिल हो जाएँ और उनका आधिपत्य समाप्त हो जाये। अत: वे कभी इन बिल्लियों को उस इलाके में घुसने नहीं देते थे। कभी कोई बिल्ली यदि उनके क्षेत्र में दाखिल हो भी जाती तो ये बलशाली जानवर उन्हें झट खदेड़ देते; उन पर भूँकते, गुर्राते। इनके पास कुछ ऐसे पैने अस्त्र भी थे जिनसे बिल्लियाँ डरतीं थीं। बेचारी बिल्लियाँ कभी थोड़ा कुछ प्रतिकार करतीं भी तो रखवालों के अस्त्रों से घायल होकर हताश हो चुप बैठ जातीं।

एक बार एक चालाक, बहादुर, प्रतिभावान बिल्ली अपनी काबिलियत के बल पर उस इलाके में पहुँच गई और वहां के सबसे फलदार वृक्ष की सबसे ऊपर वाली शाखा पर चढ़ कर बैठ गई। रखवाले बौखला गए, उन्होंने अपने भेड़ियों, कुत्तों और लोमड़ियों के माध्यम से उस बिल्ली को डरा धमका कर पेड़ से उतर कर चले जाने की धमकी दी। खूब भौंके, गुर्राए पर बिल्ली टस से मस न हुई। रखवालों में भी उस पेड़ पर चढ़ने की काबिलियत नहीं थी। वे नीचे से ही अपने पैने अस्त्र बिल्ली की तरफ उछाल-उछाल कर फेंकने लगे, परन्तु वे अस्त्र भी उस तक नहीं पहुँच रहे थे, अधिक से अधिक वे बिल्ली से टकराकर वापस उनके सिरों पर ही आ गिरते थे। बिल्ली शांति से अपनी जगह पर बैठी मुस्कुराती रही थी।

यह नज़ारा देख कर अब स्वघोषित अधिपति परेशान हो रहे थे कि अब बाकी बिल्लियों के हौसले भी बुलंद हो जायेंगे। काबिल तो वे थीं ही, अब उनका एकछत्र साम्राज्य छिन सकता था और इस इलाके के फल अब उन्हें बिल्लियों के साथ बाँट कर खाने होंगे। वे बिलबिला रहे थे पर कुछ कर पाने में असमर्थ थे क्योंकि बिल्लियों ने अब गीदड़ों, लोमड़ियों और उनके नुकीले अस्त्रों से डरना छोड़ दिया था।

ए प्लेस कॉल्ड होम: बात दूर तलक जाएगी

डॉ. विजय शर्मा
सिनेमा विशेषज्ञ और विश्व साहित्य अध्येता

प्रवासी रचनाकार डॉ. सुषम बेदी (1 जुलाई 1945-20 मार्च 2020) कोलंबिया यूनिवर्सिटी से सेवा निवृत्त होने के पश्चात सिटी कॉलेज न्यू-यॉर्क और अन्य संस्थानों में हिन्दी शिक्षण करती रहीं। वे पत्रकारिता और मीडिया में भी संलग्न थीं। उन्होंने नाटक, टीवी और फ़िल्म में काम किया था। प्रवासियों, खासकर प्रथम और द्वितीय पीढ़ी के प्रवासियों की चुनौतियाँ, संघर्ष, स्मिता का संकट, स्त्रियों की दोहरी भूमिका, उनका नज़रिया, आदि उनके लेखन की प्रमुख विशेषताएँ हैं। साहित्य अकादमी सहित कई सम्मान-पुरस्कार प्राप्त सुषम बेदी के लेखन में कहानियाँ (‘चिड़िया और चील’, ‘तीसरी आँख’, ‘सड़क की लय’ कहानी संग्रह), उपन्यास (‘हवन’, ‘लौटना’, ‘कतरा दर कतरा’, ‘मोर्चे’, ‘गाथा अमरबेल की’, ‘नवभूम की रस कथा’, ‘मैंने नाता तोड़ा’, ‘पानी केरा बुदबुदा’) के अलावा काव्य और लेखों का भी समायोजन है। डॉ. रेखा सेठी और हिना नंदराजोग द्वारा संपादित और साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित ‘ए प्लेस कॉल्ड होम’ की भूमिका में सुषम बेदी के कार्य पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

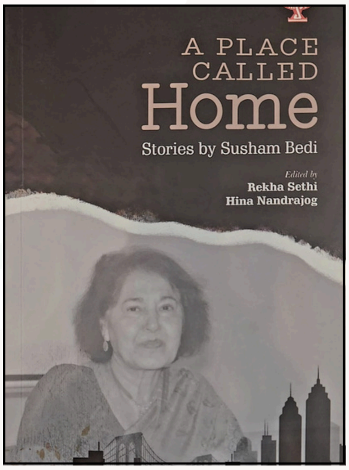

बेदी का कार्य दो दुनिया में रहने वालों के जीवन की जटिलता को प्रस्तुत करता है। उनका लेखन प्रवासियों के सांस्कृतिक, मनोजगत, सामाजिक जीवन की गहराइयों में उतरता है। उनका अधिकांश लेखन अमेरिका जाने के बाद ही प्रकाशित हुआ किंतु वे सदा भारतीयता से जुड़ी रहीं। स्त्रियों की दशा-दिशा उनके लेखन का एक प्रमुख स्वर है। वे प्रवास में वैवाहिक जीवन की दरार, घरेलू हिंसा, स्त्री की स्वतंत्रता की चाह का बखूबी चित्रण करती हैं। हालाँकि प्रवासी पुरुष की मानसिक-भावात्मक दिक्कतें भी कम नहीं है और यह भी बेदी की नज़र से अनदेखा नहीं है, जैसे ‘अवसान’ कहानी में।

सुषम बेदी के लेखन में हर आयु के पात्र और उनके जीवन-संघर्ष मिलते हैं, दो संस्कृतियों से समन्वय सरल नहीं होता।

मसलन ‘गुनहगार’(‘गिल्ट’)में वृद्धावस्था में शादी करना अमेरिका में कोई अजूबा नहीं है, लेकिन एक भारतीय विधवा के लिए यह जीवन-मरण का प्रश्न बन जाता है। प्रवास में भारतीय माता-पिता अपने बच्चों विशेषकर बेटियों से भारतीय आचरण की अपेक्षा करते हैं, जबकि बच्चे के पलने-पढ़ने का पूरा वातावरण अमेरिकी है ‘चिड़िया और चील’, ‘विभक्त’ (‘बर्ड एंड काइट’, ‘स्प्लिंटर्ड’) इसका उदाहरण हैं।

अनुवाद का अपना महत्व है, इसके द्वारा बात दूर तलक जाती है। और अनुवाद से मेरा नाता रहा है, अत: यहाँ अनुवाद की बुनियादी कठिनाइयों पर बात होना लाजमी है। अनुवाद के लिए अनुवादक का मात्र दोनों भाषाओं का जानकार होना पर्याप्त नहीं होता, उसका दोनों संस्कृतियों से परिचित होना जरूरी है। इस किताब में कई अनुवादक शामिल हैं, जिसमें कुछ उम्रदराज़ और अनुभव

सम्पन्न हैं तो कुछ अनुभव कला के शुरुआत पर खड़े युवा भी हैं। सब अनुवादकों का मूल लेखन से परिचय और उनका आपसी तालमेल कठिन लेकिन अत्यावश्यक है।

एक अच्छी बात हुई कि 'ए प्लेस कॉल्ड होम' की सातों अनुवादक इंग्लिश शिक्षण से जुड़ी हैं, अत: भाषा को लेकर कोई दिक्कत न थी, पर असल काम कहानियों में निहित भावों को पकड़ना था। काम की गुणवत्ता बनाए रखने हेतु इसे एक प्रोजेक्ट के तौर पर लिया गया, जिसमें साहित्य अकादमी की महती भूमिका रही। अनुवाद के एक-एक पहलू पर चर्चा हुई, मसलन, 'गुनहगार' को 'गिल्ट' क्यों किया गया, मूल शीर्षक 'गिल्टी' क्यों नहीं रखा गया। पुस्तक में डॉ. रेखा द्वारा लिया गया सुषम बेदी का एक लंबा साक्षात्कार भी शामिल है, जो उनके गुज़रने के बाद प्रकाशित हुआ। इसमें बेदी कहती हैं कि ऐसा नहीं कि परेशानियाँ, कठिनाइयाँ, अत्याचार केवल विदेश में हैं, भारत में भी घरेलू हिंसा, जाति, धर्म विवाद और मुद्दे जम कर हैं लेकिन भारतीय संस्कृति और अमेरिकी संस्कृति में ज़मीन-आसमान का अंतर है। गरीबी अमेरिका में भी है, पर यहाँ अलग तरीके की गरीबी है। प्रवासी के लिए यहाँ अकेलापन है, अजनबीपन है। आप चाह कर भी विदेशियों के बहुत निकट नहीं हो पाते, सदा बाहरी रहते हैं। अमेरिका का प्रवासी हिन्दी लेखन डेनमार्क के प्रवासी हिन्दी लेखन से भिन्न है। स्त्री होने के नाते उनके लेखन में स्त्री भावनाएँ, अनुभव आता है, आएगा ही।

सुषम बेदी नॉस्टाल्जिया को बुरा नहीं मानती, यह तो चेतना का अंग है, इसका अपना मूल्य है, यह अनोखा भाव प्रवासी लेखन को दूसरे प्रकार के लेखन से विलगाता है। बहुत कम सफल रचनाकार हैं, जो अन्य रचनाकारों को पढ़ते हैं, उन्हें पहचानते हैं, उनका उदाहरण देते हैं। उदारमना सुषम बेदी अन्य प्रवासी लेखक को मान्यता देती हैं।

इस किताब के संदर्भ में एक छोटी-सी बात बताती चलूँ, मेरा सुषम बेदी से खास नाता रहा है, जो मेरे शोध-प्रबंध में संदर्भ का विशेष ज़रिया बना क्योंकि इसके पहले इन प्रवासी लेखन (अपनी मर्जी से विदेश गए, वहाँ बसे लेखकों) पर कोई कार्य उपलब्ध न था। सुषम बेदी की रचनाओं पर मैंने जो कुछ लिखा, उसे उन्होंने पढ़ा था; मेरे लिखे से वे काफ़ी प्रसन्न रहती थीं। मैं अंतिम बार भोपाल में उनसे मिली थी, जो सदैव मेरी मधुर स्मृति के गलियारे में सुरक्षित रहेगा। 'ए प्लेस कॉल्ड होम' की कहानियाँ मूल हिन्दी में मेरी पढ़ी हुई हैं, इन्हें इंग्लिश में पढ़ना अच्छा लगा। तुलना करते हुए पढ़ कर अनुवाद की गुणवत्ता की कायल हुई। एक और बात साझा करना चाहूँगी, इस किताब पर पहला कार्यक्रम 'सृजन संवाद' (145वीं गोष्ठी) में हुआ। इस सफ़ल ऑनलाइन कार्यक्रम में रेखा सेठी स्वयं उपस्थित थीं, साथ में सुषम बेदी के निकट रही लंदन की दिव्या माथुर (उनका लेखन भी मेरे शोध-कार्य में शामिल है) और प्रवास में कई बरस गुजार चुके, बेदी के कई कार्यक्रमों को आयोजित करने वाले अनिल जोशी भी शामिल थे।

साहित्य अकादमी ने इसे सुरुचि के साथ प्रकाशित किया है। कवर पेज सुषम बेदी का चित्र और उसके चारों ओर का वातावरण बिना शब्दों के काफ़ी कुछ बयाँ करता है। पूरी किताब का गेटअप, रंग संयोजन सब बहुत आकर्षक है। संपादक द्वै और अनुवादकों को बधाई! आशा है यह किताब 'ए प्लेस कॉल्ड होम' सुषम बेदी के कार्य को नए पाठकों तक ले जाएगी। उनके अन्य कहानियों-उपन्यासों का भी न केवल इंग्लिश वरन अन्य भारतीय और विदेशी भाषाओं में अनुवाद होगा, और पाठक जानेंगे हिन्दी में गर्व करने योग्य सुषम बेदी जैसे रचनाकार हैं।

हिंदी-विंदी

प्रो. सुभाष शर्मा
मेलबॉर्न-ऑस्ट्रेलिया
पूर्व विभागाध्यक्ष, ऐसेट मैनेजमेंट, सेंट्रल क्वींसलैंड यूनिवर्सिटी

अंग्रेज़ी फ़िल्म, हिंदी-विंदी में अभिनेत्री नीना गुप्ता और मिहिर आहूजा के साथ ऑस्ट्रेलिया के टी.वी स्टार और अंग्रेज़ी गायक, गाई सबेस्टियन, ने भी मुख्य भूमिका निभाई है। उन्होंने इसके गीत भी लिखे हैं, और वे इस फ़िल्म के संगीत निर्देशक भी हैं। इसके पटकथा लेखक तथा सह फिल्म निर्माता जयंत शर्मा हैं, और निर्माता अनिकेत देशकर तथा निर्देशक सैयद अली हैं।

यह फ़िल्म विदेश में पले भारतीय माता पिता की अकेली संतान की कहानी है, जो मां के स्वर्गवास के बाद पिता से अलग रह रही है। उसकी भाषा अंग्रेज़ी है पर वह न अंग्रेज़ है और न हिन्दुस्तानी। गायन वादन का उसका शौक उसके क्रोध और मानसिक तनाव को कम करने का प्रयास है। जब भारत से उसकी नानी उससे मिलने आती है तो वे दूसरे बात करते समय बेहद झुंझलाते हैं। धेवता नानी को गूगल और सीरी का उपयोग सिखाता है, साथ ही गर्ल-फ्रेंड, बॉय फ्रेंड और लेस्बियन कल्चर से परिचित करवाता है, दूसरी ओर, नानी पीज़ा-पास्ता खाने वाले धेवते की भारतीय व्यंजनों के प्रति लालसा जगाती है। जहां वही पिता जो नास्तिक था, अपने बेटे को नानी के पैर छू कर कॉन्सर्ट में जाने को कहता है, नानी उसे दही-चीनी खिला कर उसे संगीत प्रतियोगिता में भेजती है।

इस बीच, धेवता जो चोरी-छिपे हिंदी सीखता रहा था, अपने पिता और नानी को अपने स्कूल में आयोजित भाषा दिवस पर टूटी-फूटी हिंदी में भाषण देकर अचंभित कर देता है किंतु वह स्वयं अच्छी तरह से हिंदी में न बोल पाने पर मन ही मन अपने पर बहुत क्रोधित है। अंत में, वह मुंबई में कॉन्सर्ट करता है, जिसमें वह अपना लिखा गीत नानी को समर्पित करता है। भावनाओं के उतार चढ़ाव के मध्य, यह फ़िल्म हिंदी भाषा और भारतीय संस्कृति के माध्यम से परिवार, समाज और देश को जोड़ने का संदेश देती है। कम बजट पर बनी यह फिल्म दर्शकों को बार बार हंसने और रोने को मजबूर करती है। यही इसकी सफलता है।

एक बिना शीर्षक की कहानी

(अंतोंन चेखव की कहानी का अंग्रेज़ी से अनुवाद, मूल रूसी से अंग्रेज़ी अनुवाद – कॉन्सटन्स गार्नेट, सैमुएल कोटेलीयन्सकी,आरईसीलॉंग)

ऋचा जैन
आई टी प्रोफेशनल

पाँचवी शताब्दी में, जैसा कि अब भी है, सूरज हर सुबह उठता और हर शाम सोने चला जाता। भोर की पहली किरणें ओस की बूँदों को चूमतीं तो धरती जी उठती, हवा हर्षोल्लास और आशा के स्वरों से भर जाती और शाम को वही धरती शांत हो घोर अंधकार में डूब जाती। सारे दिन एक समान थे और सारी रातें एक समान। कभी-कभी तूफ़ानी बादल घिर आते और गुस्से में गड़गड़ाते, या कभी दूर आकाश से एक तारा गिरता, या कभी एक कुम्हलाए चेहरे वाला ईसाई भिक्षु दौड़ता आता और मठ-भाइयों को बताता कि मठ से कुछ ही दूरी पर उसने एक बाघ देखा - और बस इतना ही, और दिन फिर दिन जैसा हो जाता, और रात, फिर रात जैसी।

भिक्षु काम करते और ईश्वर से प्रार्थना करते। एक वृद्ध भिक्षु इस ईसाई-मठ का प्रमुख था। वह चर्च का बड़ा वाद्ययंत्र, ऑर्गन, बजाता था, लैटिन छंदों की रचना करता और संगीत बुनता। इस बूढ़े व्यक्ति के पास एक असाधारण सिद्धि थी। वह ऑर्गन बजाने में अविश्वसनीय रूप से कुशल था। इतना कि बुढ़ापे और शिथिलता से लगभग बहरे हो चले भिक्षु भी जब उसके कक्ष से आती ऑर्गन की ध्वनि सुनते, तो भावुक हो रोने लगते। वह किसी साधारण से साधारण विषय जैसे कि किसी पेड़, कोई खूँखार जानवर या समुद्र पर भी चर्चा करता, तो ऐसा लगता जैसे कि ऑर्गन के तार उसकी आत्मा में भी बज रहे हों और बिना आल्हादित हुए या बिन आँसू बहाए उसे सुनना असंभव होता। जब वह क्रोधित होता अथवा तीव्र आनंद में डूबता, या किसी भयावह अथवा महत्वपूर्ण बात का ज़िक्र करता, तो भावनाएँ उस पर हावी हो जातीं, उसकी चमकती आँखों में आँसू आ जाते, उसका चेहरा लाल हो जाता, उसकी आवाज़ गड़गड़ाहट के साथ गरजने लगती। भिक्षु उसे सुनकर सम्मोहित हो जाते। उसकी बातें भिक्षुओं के लिए वशीकरण मंत्र का काम करतीं। ऐसे शानदार, अद्भुत क्षणों में उसकी शक्ति असीमित होती। ऐसे सम्मोहन के चलते यदि वह अपने से बुज़ुर्ग भिक्षुओं को भी समुद्र में कूदने का आदेश देता, तो भी उनमें से हर एक उसकी इच्छा को पूरा करने के लिए ख़ुशी से दौड़ पड़ता।

उसके स्वर, संगीत और कविता भिक्षुओं को बहुत आनंदित करते। उनमें स्वर्ग-नरक और ईश्वर की बातें समाहित रहती थीं। फिर यूँ हुआ कि सभी भिक्षु अपने जीवन की एकरसता और पेड़ों, फूलों, बसंत व पतझड़ से ऊब गए। समुद्र की आवाज़ ने उनके कानों को थका दिया। पक्षियों का गायन अप्रिय हो गया। लेकिन रोटी-पानी की तरह ही मठ-प्रमुख और उसकी कलाएँ भिक्षुओं की हर दिन की ज़रूरत बनी रहीं।

दसियों साल बीत गए, और हर दिन, दिन जैसा दिन और रात, रात जैसी होती रही। जंगली जानवरों और पक्षियों के अलावा मठ के पास एक भी आत्मा दिखाई नहीं दी। सबसे पास की बस्ती भी बहुत दूर थी, और मठ और बस्ती के बीच सौ मील का रेगिस्तान फैला हुआ था। केवल वे लोग ही रेगिस्तान पार करने का साहस करते, जिन्होंने जीवन का मोह छोड़ मठों को अपने जीवन का

अंतिम पड़ाव मान उनमें शरण ले ली हो।

इसलिए भिक्षुओं के आश्चर्य की कल्पना की जा सकती है जब एक रात जीवन से मोह रखने वाले एक शहरी आदमी ने उनके दरवाज़े पर दस्तक दी।

मठ-प्रमुख से आशीर्वाद माँगने और प्रभु से प्रार्थना करने से पहले इस व्यक्ति ने वाइन और भोजन की माँग की। भिक्षुओं ने उससे पूछा कि वह शहर से रेगिस्तान तक कैसे पहुँचा, तो उसने बताया कि वह शिकार करने निकला था। बहुत ज़्यादा शराब पी ली थी और रास्ता भूल गया।

भिक्षुओं ने जब उसे भी भिक्षु बन जाने और उसे अपनी आत्मा के कल्याण करने की बातें सुझाईं तो उसने मुस्कुराते हुए कहा, "मैं आपके जैसा नहीं हूँ।"
खाने-पीने के बाद उसने अपने चारों ओर नज़र डाली। सेवा में लगे भिक्षुओं को देख उसने तिरस्कार के भाव से अपना सिर हिलाया और कहा:
“भिक्षुओ, तुम कुछ भी नहीं कर रहे हो! तुम्हें बस अपने खाने-पीने के बारे में पता है। क्या इसी तरह कोई आत्मा का कल्याण करता है? सोचिए, आप यहाँ जब शांति से बैठे हैं, खा रहे हैं, पी रहे हैं और आनंद के सपने देख रहे हैं, तो आपके पड़ोसी पथ-भ्रष्ट हो रहे हैं, नरक में जा रहे हैं। देखिए, शहर में क्या हो रहा है! कुछ भूख से मर जाते हैं, कुछ अपने रहने-सोने का जुगाड़ ही नहीं कर पाते और कुछ व्यभिचार के शहद में फँसी मक्खियों की तरह मर जाते हैं। लोगों में कोई आस्था या सच्चाई ही नहीं है! उन्हें बचाना किसका काम है? उपदेश देना किसका काम है? मैं भी तो सुबह से शाम तक नशे में रहता हूं! क्या ईश्वर ने आपको आस्था, विनम्रता और सहृदयता इसलिए दी है कि आप यहाँ चारदीवारी के भीतर बैठे रहें और कुछ न करें!"

नशे में धुत शहरी के शब्द धृष्टता से भरे और अशोभनीय थे, लेकिन मठ-प्रमुख पर उनका अजीब प्रभाव पड़ा। उसका चेहरा उतर गया और उसने अपने भिक्षुओं की आँखों में देखकर कहा:
“भाइयो, यह आदमी सच कह रहा है! हम यहाँ आनंद में हैं जैसे कि हमें इस बात से कोई लेना-देना ही नहीं कि दीन-दुखी लोग किस तरह अधर्म और दुराचार के शिकार हो रहे हैं। मैं क्यों न जाऊँ और उन्हें उस मसीहा की याद दिलाऊँ, जिसे वे भूल गए हैं?"

शहरी की बातों का मठ-प्रमुख पर इतना असर हुआ कि उसने अगले दिन ही अपनी छड़ी उठाई, भाइयों को अलविदा कहा और शहर की ओर चल दिया। और मठ के भिक्षु उसके संगीत, प्रवचनों और कविताओं के बिना रह गए।

वे ऊबते रहे, लेकिन प्रमुख वापस नहीं आया। फिर तीन महीनों के बाद उसकी छड़ी की चिरपरिचित आवाज़ सुनाई दी। भिक्षु उससे मिलने के लिए दौड़े और उस पर सवालों की झड़ी लगा दी, लेकिन उन्हें देख ख़ुश होने के बजाय, वह फूट-फूट कर रोने लगा और उनसे एक शब्द भी नहीं कहा। भिक्षुओं ने पाया कि वह बहुत बूढ़ा हो चुका था और उसका वज़न

भी घट गया था; उसके थके हुए चेहरे पर दुःख पसरा हुआ था, और वह किसी आहत व्यक्ति की भाँति रोता जा रहा था।

भिक्षु भी रोने लगे और द्रवित होकर पूछने लगे कि वह क्यों रो रहा है, इतना उदास क्यों है, उसने फिर भी कुछ नहीं कहा और ख़ुद को अपनी कोठरी में बंद कर लिया। सात दिन तक वह अपने कमरे में बैठा रहा, उसने न कुछ खाया, न कुछ पिया, न ऑर्गन बजाया – वह बस रोता रहा। जब कभी भिक्षुओं ने उसके दरवाज़े पर दस्तक दी और बाहर आकर उनके साथ अपना दुख साझा करने का अनुरोध किया तो जवाब में अंदर से बस एक गहरी चुप्पी ही आई।

अंततः एक दिन वह बाहर आया। सभी भिक्षुओं को अपने चारों ओर इकट्ठा किया। आँसुओं से सने चेहरे और दुख और आक्रोश के साथ उसने उन तीन महीनों में अपने साथ जो घटित हुआ उसका ब्योरा देना शुरू किया।

जब वह मठ से शहर तक की यात्रा का वर्णन कर रहा था तो उसकी आवाज़ में शांति थी और उसकी आँखों से ख़ुशी बरस रही थी। उसने कहा, रास्ते में पक्षी उसके लिए गा रहे थे, नदियाँ कल-कल कर रही थीं, और मधुर, युवा आशाएँ उसकी आत्मा को झकझोर रही थीं; वह आगे यूँ बढ़ा जैसे कोई सैनिक युद्ध में जा रहा हो और अपनी जीत के प्रति पूरी तरह से आश्वस्त हो; स्वप्न देखते हुए वह चलता रहा, छंद और भजन रचता रहा और उसे पता ही नहीं चला कि कब शहर आ गया। जैसे ही उसने शहर और वहाँ के लोगों के बारे में बताना शुरू किया, उसकी आवाज़ काँप उठी, आँखों से आग बरसने लगी और वह क्रोध से लाल हो उठा। शहर में उसने जो देखा वैसा उसने अपने जीवन में न तो कभी देखा था और न ही उसकी कल्पना की थी। अपने जीवन में पहली बार, वो भी अपने बुढ़ापे में उसने देखा और समझा कि शैतान कितना शक्तिशाली है, बुराई कितनी आकर्षक है और लोग कितने कमज़ोर, कायर और निकम्मे हैं।

दुर्भाग्य से वह जिस पहले घर में दाख़िल हुआ वह अय्याशी का अड्डा था। लगभग पचास अमीर लोगों का जमघट था और वे अनियंत्रित रूप से खा रहे थे और शराब पी रहे थे। वे शराब के नशे में धुत होकर ऐसे गाने गा रहे थे और बिना किसी संकोच या लिहाज के ऐसे गंदे और घृणित शब्द कह रहे थे, जिन्हें ईश्वर को मानने वाला कोई व्यक्ति दोहराने का साहस भी नहीं कर सकता। वे निरंकुश और उन्मत्त थे, वे न तो ईश्वर से डरते थे, न शैतान से और न ही मृत्यु से, बल्कि वे जो चाहते थे वही कहते थे और करते थे, और जहाँ उन्हें उनकी वासना ले जाती, वहीं चले जाते। पीले-भूरे रंग की स्वच्छ, सुनहरी आभा वाली शराब अद्भुत रूप से मीठी और सुगंधित थी, क्योंकि उसे पीने वाला हर कोई आनंद से मुस्कुराता था और उसे और अधिक पीना चाहता था। जब कोई व्यक्ति मुस्कुराता था, तो वह भी मुस्कुराहट के साथ प्रतिक्रिया करती थी, और जब वे उसे पीते थे, तो वह ख़ुशी से चमकती थी, मानो उसे पता हो कि उसने अपनी मिठास में कितना शैतानी आकर्षण छिपा रखा है।

मठ-प्रमुख का आक्रोश बढ़ता जा रहा था और वह व्यथित हो रो रहा था, उसने जो कुछ देखा उसका वर्णन करना जारी रखा। उसने कहा, दावत करने वालों के बीच एक मेज़ पर एक अर्धनग्न वेश्या खड़ी थी। प्रकृति में इससे अधिक सुंदर और मनोरम किसी भी वस्तु की कल्पना करना और उसे ढूँढ़ पाना कठिन होगा। यह सर्पीली युवा, लंबे बालों वाली, काली चमड़ी वाली, काली आँखों

और मोटे होंठों वाली, बेशर्म और ढीठ, बर्फ़ की तरह सफ़ेद दाँत दिखाकर मुस्कुराई, मानो कहना चाहती हो: "देखो मैं कितनी ढीठ हूँ, कितनी सुंदर हूँ!" रेशमी कपड़े और ब्रोकेड की सुंदर सिलवटें उसके कंधों पर लहरा रही थीं। उसकी सुंदरता कपड़ों के नीचे छिपना नहीं चाहती थी, जैसे वसंत की मिट्टी से युवा हरियाली झलक जाती है वैसे ही सिलवटों के बीच से रास्ता बनाता हुआ उसका मदमाता सौन्दर्य झलक रहा था। उस उद्दंड स्त्री ने शराब पी, गाने गाए और जिस किसी ने उसे चाहा उसे ही स्वयं को सौंप दिया।

इसके अलावा बूढ़े व्यक्ति ने गुस्से में अपने हाथ हिलाते हुए ही घुड़दौड़, साँड़ों की लड़ाई, रंगमंच और कला-कार्यशालाओं का वर्णन किया। उसने कहा, कार्यशालाओं में वे नग्न महिलाओं को चित्रित करते हैं और मिट्टी से गढ़ते हैं। उसने वहाँ देखे हुए कटीले सौन्दर्य से प्रेरित होकर शहर का यूँ विवरण दिया मानो वह अदृश्य तारों से खेल रहा हो। सभी भिक्षु सहमे हुए तृष्णा से उसके शब्दों का पान कर रहे थे और उत्साह के चरम पर आ गए थे... शैतान के सभी आकर्षणों, पाप के सौन्दर्य और घृणित महिला के शरीर के मोहक लटकों-झटकों का वर्णन करने के बाद बूढ़े भिक्षु ने शैतान को श्राप दिया और वापस अपने कमरे में लौट कर दरवाज़ा बंद कर लिया।... अगली सुबह जब वह अपनी कोठरी से बाहर निकला तो मठ में एक भी भिक्षु नहीं था। सभी शहर की ओर भाग गए थे।

आपके पाँव बड़े खूबसूरत हैं

डॉ निखिल कौशिक
ब्रिटेन
नेत्र विशेषज्ञ, और लघु वृत्त चित्रों के निर्माता।

बचपन में एक कहानी सुनी थी, जिसमें एक हिरण अपने सींघों के सौन्दर्य पर बहुत गर्व करता था किंतु जब जब अपने पैर देखता था, निराश हो जाता था क्योंकि उसके पैर सुन्दर नहीं थे। उसे लगता कि उसके पैरों के कारण उसका सम्पूर्ण सौन्दर्य धूमिल पड़ रहा था। एक बार ऐसा हुआ के उसके सींघ एक झाड़ी मे उलझ गए; तभी एक शेर उसकी ओर बढ़ने लगा। पैरों के बल पर ही हिरण अपने को झाड़ी से छुड़ा कर भागने में सफल हुआ; तब उसे समझ में आया कि पैर कितने महत्वपूर्ण हैं। फिर एक फिल्म देखी, 'पाकीज़ा', जिसमें राजकुमार मीना कुमारी के खूबसूरत पैरों को देखकर कहते हैं, "आपके पांव देखे, बहुत हसीन हैं, इन्हें ज़मीन पर मत उतारिएगा, मैले हो जाएंगे।" इन दोनों बातों के बीच सच्चाई यह है कि पैरों का सुन्दर होना और सवस्थ-तंदुरुस्त होना दोनों ही आवश्यक हैं; क्योंकि पाँव कितने भी सुन्दर हों, उन्हें स्वस्थ हुए बिना तो ज़मीन पर उतरा नहीं जा सकता। इसलिए ये आवश्यक है कि हम अपने पाँवों का ध्यान रखें, जिससे वो सुन्दर, मज़बूत और लचकदार हों, ताकि हम जीवन मार्ग की ऊबड़-खाबड़ ज़मीन पर बिना थमें, आगे बढ़ने में जीवनपर्यंत सक्षम रहें। यह आवश्यक है कि हम अपने पैरों के प्रति सदा जागरूक रहें, और बचपन से ही बच्चों को भी अपने पैरों का ध्यान रखना सिखाएं।

तो आइए एक नज़र हम पैरों की बनावट पर डालें:

हमारे पाँव में कुल मिलकर छोटी बड़ी 26 हड्डियाँ होती हैं, और इनके बीच निरंतर एक गतिविधि चलती रहती है, जिसके कारण हम ऊबड़-खाबड़ ज़मीन पर भी खड़े हो सकते हैं, चल और दौड़ सकते हैं। अपने बच्चों के कोमल पैरों को साफ़ रखने के संग संग उन्हें उचित और आरामदायक जूते भी पहनाने चाहियें; हर 6 महीने में पैरों के बढ़ते आकार को ध्यान में रखते हुए ठीक नाप के जूते खरीदने चाहियें।

दिन भर के काम और मेहनत के बाद-घर पर लौटने और सोने से पहले, सम्भव हो तो रोज़ रात पैरों को गुनगुने पानी में 10-15 मिनट तक भिगो कर बैठना चाहिए। नहाते वक्त, पैरों को साबुन से धोना और नाखूनों की सफाई पर भी ध्यान चाहिए। रोज़ नहीं तो सप्ताह मे 2-3 बार सरसों या

नारियल के तेल से पैरों की मालिश करें। सप्ताह में एक बार, हो सके तो हल्दी और बेसन का उबटन मल कर पैरों को साफ़ करें, इसके अलावा सप्ताह में 3-4 बार प्युमिस-स्टोन (झाँवा) से डेड-स्किन (मृत-त्वचा) को हटाना चाहिए। पैरों की खुश्की (ड्राइनेस) खत्म करने के लिए मॉइस्चराइज़र का प्रयोग भी लाभदायक होता है।

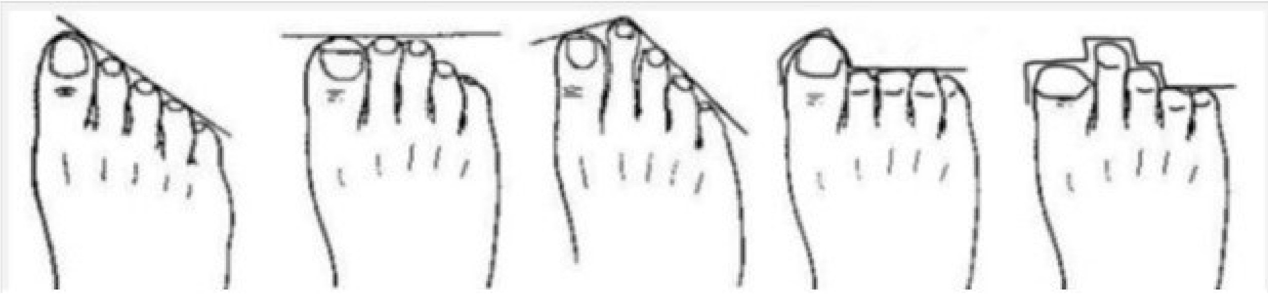

अपने और परिवार के सभी सदस्यों के लिए आवश्यक है कि बाहर जाते समय और काम करते समय उचित जूते पहने जाएँ, जिससे ठोकर-चोट न लगे। जूतों की फिटिंग ठीक होनी चाहिए; पैरों की बनावट को ध्यान में रखते हुए जूते खरीदने चाहियें। फ़ैशन के चलते विशेषकर महिलायें नुकीले जूते-सैंडिल पहनती हैं, जिनके निरंतर प्रयोग से पैरों पर बुरा असर पड़ता है, गोखरू (Bunion) हो सकता है, जो कष्टकारी होता है, इसके साथ साथ ही हमारे संतुलन पर भी बुरा असर पड़ता है। पैरों के नाखून छोटे रखना और ठीक से काटना भी आवश्यक है, इससे चलने में सुविधा होगी और उंगलियों पर अनावश्यक दबाव से बचा जा सकता है।

कुछ लोगों के पाँवों में पसीना अधिक आता है, पैरों को कई बार धोकर साफ़ धुले हुए मोज़े पहनें। किसी भी परेशानी का उचित उपचार आवश्यक है, पाद-चिकित्सक (Chiropodist) की सलाह लें। मधुमेह (Diabetes) का दुष्प्रभाव पैरों पर भी पड़ सकता है, मधुमेह के मरीज़ अपने पैरों का निरंतर ध्यान रखें और साल में दो बार, या जैसी डाक्टर अथवा Chiropodist की सलाह हो, अपने पैरों का मुआयना अवश्य करवाएँ। अपने स्वास्थ्य के बारे में कृपया खुद को अपडेट रखें, अधिक जानकारी के लिए इंटरनेट या लाइब्रेरी में उपलब्ध लेख पढ़ें, अपने डॉक्टर की सलाह लें।

गर्भावस्था के दौरान पैरों में सूजन आना आम है। कुछ महिलाओं को मासिक धर्म के दौरान सूजन का अनुभव होता है। हृदय, गुर्दे या यकृत की बीमारियों, चोट लगने, पैरों की नसों में रक्त के थक्के जमने, उच्च रक्तचाप, गठिया, संक्रमण, वज़न की समस्या या रक्त संचार में समस्या होने से भी पैरों में सूजन आ सकती है। कुछ दवाएं भी पैरों में सूजन का कारण बन सकती हैं। डॉक्टर की सलाह से सूजन कम करने वाली दवाएं ली जा सकती हैं। पैरों को ऊपर उठा कर रखने, ठंडे पानी से सेकने से या गर्म पानी में नमक मिलाकर पैरों को भिगोने से सूजन कम हो सकती है, नियमित व्यायाम करने से भी पैरों में सूजन कम हो सकती है। अपने स्वास्थ्य के बारे में कृपया खुद को अपडेट रखें, अधिक जानकारी के लिए इंटरनेट या लाइब्रेरी में उपलब्ध लेख पढ़ें, अपने डॉक्टर की सलाह लें।

सुषमा ध्यानी
वरिष्ठ हिंदी पत्रकार
गढ़वाली भाषा लेखिका

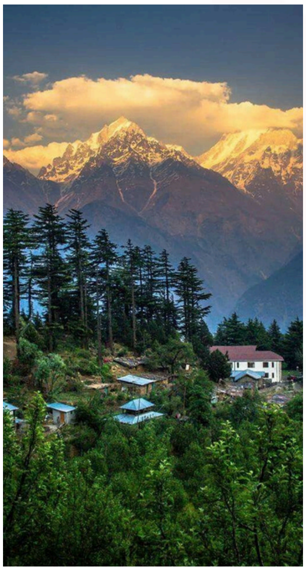

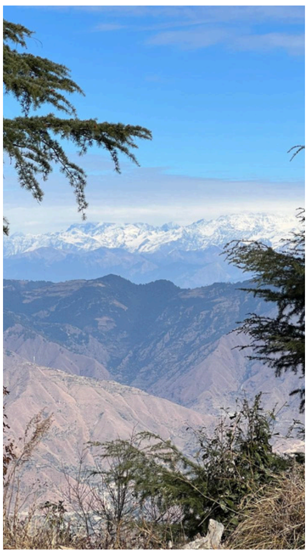

कनै बचौला हम अपणी दुधबोली थै

आपस मां ही बैरि बण्यां छां
इक-दुसरै की धद्दि पोड्यां छां
इन मां बोला कनैं बचौला
हम अपणी दुधबोली थैं

दिल्ली मुंबई देरादून मा
ह्यूंद रूढ़ि की कुछ छुट्यूं मां
स्कूली नौना-नौंन्यूं थैं
द्वी आखर हम रटै भि द्योला
अर द्वी आखर बिगैं भि द्योला
लेकिन जब तक घर मां ऊंकूं
अपणा दाना-सयाणौं दगड़ि
बोलण-बच्याण कू ढब नि पोड़लला
तब तक बोला कनै बचौला
हम अपणी दुधबोली थैं

कैन नि जाणी, कब नी जाणी
बोलि-भाषा च बगदू पाणी
जै बाटा थै सौंगू पाली
वे पर ही हिटण लग जाली
यक्ष प्रश्न च इनमा भारी
कनै बचौला साक्यूं पुराणी
हम अपणी दुधबोली थैं

ईं बात भी अंठ धैर ल्यां
रै कि भरोसा सरकारूं का
सरकारी फाइलूं मा चाहे
चुफ्फा मां बैठै द्यां वी थैं
अर केवल कागज पतरूं मां
अपणी भाषा का जलड़ा जमाणैकि
हमरि ज्व एखरी बरड़ी लगी चा
वां से भि कुछ हासिल नी च
ईं बानी का कथगा ही हम
चाहे सौ-सौ जतन करी ल्यां
इनमा हम क्वी बचै नि सकदां
साक्यूं पुराणी अपणी ईं दुधबोली
थैं

अपणी भाषा बोलण बिगण कू
क्वी इस्कूल जरूरी नी
क्या च जरूरी सबसे पैली
यां पर हम जरा गौर करां
पैदा होंद ही बच्चा कि भुक्की
जब हम प्योला अपणी बोलि मां
तभी बचै सकला भै बंदौ
हम अपणी दुधबोली थैं
ग्वाया लगांदा बच्चा क दगड़ी
अपणि बोलि मां खेल मिसौला
तभी बचै पौला भै बंधु
हम अपणी दुधबोली थै
अधंयू लगदा बच्चा थैं भी
अपणी ही बोलि म बुथोल्या
तभी बचै सकला भै बैण्यूं
हम अपणी दुधबोली थैं

रोजगार का खातिर जो भी
पाड़ छोड़ि की भैर बस्यां छन
अपणी बोलि थैं गौं छोड़ी की
हिन्दी अंग्रेजी वला बण्यां छन
तौंका इस्कुलि नौन्यालु से
पैलि जगावा वू थैं दगड्यों
कै भी जतन से समझै-बुझैकी
तौंकी क्लास लगावा दगड्यों

अपणि भाषा की झौल जगलि
जब ऊंका मन अपणी तरां से
तभी त अपणा घौर भितर वो
बिंगला बच्याला अपणि बोलि मा
और तभी अपणा बच्चौं भी
प्रेरित करला लिखण बोलण कु
अपणि बोली का पड़ जाला जब
इना संस्कार मनू मा ऊंका
तभी बचै सकला भै बैण्यूं
हम अपणी दुधबोली थैं।

जलमग्न टिहरी कु एकालाप

अंजू ढौंडियाल
शिक्षिका, स्वतंत्र पत्रकार, लेखिका और सामाजिक कार्यकर्ता

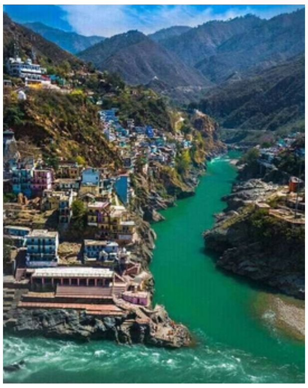

भागीरथी - भिलंगना संगम पर
शिव मंदिर मा पूजा देखी,
शिवजी तैं "दादाजी" का
रिश्ता मा मिन बँध्यूं देखी।
क्या जी बोलूं मिन क्या देखी?
कनै दिखाऊँ मी तुम थैं
जु मिन देखी बस मिन देखी।

महल की सीढ़ी उतरदी - चढ़दी
महाराजा की बारात देखी।
आंदा-जंदा घोड़ों पर मिन,
दरबारियों की मौज देखी।
क्या जी बोलूं मिन क्या देखी?
कनै दिखाऊँ मी तुम थैं
जु मिन देखी बस मिन देखी।

ऊंच्चा- निच्चा बाटों मा ,
चढ़दी - फूलदी सांसों मा ,
आंदा - जंदा बुआडा - बुआडी ,
कणसी मां अर भैजी देखिन।
क्या जी बोलूं मिन क्या देखी?
कनै दिखाऊँ मी तुम थैं
जु मिन देखी बस मिन देखी।

सुनारा की दुकाना मा,
बीच बाजार घंटाघर मा
गुलबंद, मुर्कुली, हंसुली, पैजेबी,
अर जड़ाऊ नथों कु भंडार देखी।
क्या जी बोलूं मिन क्या देखी?
कनै दिखाऊँ मी तुम थैं
जु मिन देखी बस मिन देखी।

अपण गली - गलियारों मा मिन,
राजनेताओं की हलचल देखी,
नशामुक्ति आंदोलन मा,
महिलाशक्ति प्रदर्शन देखी।
क्या जी बोलूं मिन क्या देखी?
कनै दिखाऊँ मी तुम थैं
जु मिन देखी बस मिन देखी।

हर आंगन मा कुजाण
कतना जुगनू उड़दा देखिन?
घर-घर गायों की रोटी,
पितरों खुण थाली सजदी देखिन।
क्या जी बोलूं मिन क्या देखी?
कनै दिखाऊँ मी तुम थैं
जु मिन देखी बस मिन देखी।

शाम बाजार की चमक - धमक
अर सलमा चूड़ियों की दुकान,
सिंगोरियों का टीला - पहाड़ अर
अरसा - रोटा की भरमार देखी।
क्या जी बोलूं मिन क्या देखी?
कनै दिखाऊँ मी तुम थैं
जु मिन देखी बस मिन देखी।

अब पाणी निस कुछ नि दिखणु ,
मी सिसकदू यकूली यख रै गयों ,
भागीरथी-भिलंगना ढुंढदा-ढुंढदा
मी पिघल जलसमाधिस्थ होय गयों
मिन जू देखी फलदा- फूलदा,
वू अब सब पाणी मा मिलगी
क्या जी बोलूं मिन क्या देखी?
कनै दिखाऊँ मी तुम थैं
जु मिन देखी बस मिन देखी।

हमारी बोली हमारी शान हमारु अभिमान

हेमचंद्र सकलानी
लेखक - कवि

सबसे पहली शोर पैदा हवै , फिर संकेत बणिन् , फिर बोली बणी , फिर भाषा फिर लिपी बणि। देखी जौ त मनखि कू विश्व मा सबसे सुंदर अविष्कार बोली , भाषा अर लिपी छ। सोचा जु बोली , भाषा , लिपी नी होंदी त हम अपणा पूर्वजों का जना यानि बंदर, चिपांजी गुरिल्लों ही रहंदा आज तक। बोली त हर पशु पक्षी जानवर की छ पर लिपी भाषा का नौ होण से ऊ जख का तख ही रै गिन। युई कारण छ कि मनखि आज कख से कख पहुंची गै।

हमारी स्थानीय बोली , भाषा का रूप मा तभी तक ता जिंदा रै पाली , जब हम अपणा घर , गौं , खेती बाड़ी अर पगडंडियों से जुणयां रौला और वींकू उपयोग करला।बोली भाषा हर अपणा अपणा क्षेत्र की एक अलग पहचाण होंदी। जनू जौनसारी जौनसारा की, गढ़वाली गढ़वालै की, कुमाऊंनी कुमाऊं प्रतिनिधित्व करदी। बोली भाषा ही हमारा भावों की सोच की अभिव्यक्ति होंदी। कुई भी बोली जब साहित्य कू रूप लेंदी तब व सुंदर भाषा मा बदल जांदी।

साहित्य ही बोली व भाषा तैं लोकप्रिय बणोंदू व शिखर तक पहुंचाण मा उल्लेखनीय भूमिका निभौंदू। जतना भी भाषा विकसित हवैन ऊं कु आधार बोली ही रै। बोलिम गहरू आपणूपन कू अहसास भी होंदू।

आदिम युग मा मनुष्य ये कारण ही असभ्य और क्रूर थौ। तब कुई बोली भाषा लिपि नी थै। बोली भाषा केवल मनखियों तैं ही ना पण पशु पक्षियों तैं तक एकता का सूत्र में बांधण कु जरिया होंद। कै छोटा सा क्षेत्र का समाज का जन्म का साथ जु बोली भाषा, अपणी विशेष संस्कृति , परम्पराओं, रीति रिवाजों , उत्सव त्योहारों पर्वों तैं समेटी रैंद व ही लोकभाषा कहलांदी। जै से भावों व विचारों कु आदान प्रदान होंदू।

हर भाषा चाहे आज कतना ही समृद्ध हवै जाओ , वीं का विकास कु आधार बोली ही होली। जब बोली तैं धीरा-धीरा आवश्यकतानुसार परिष्कृत करे जांदू तब वह भाषा को रूप लेण लगदी। गढ़वाली , बोली का रूप मां , भाषा का रूप मां हिमालय का ईं पर्वतीय क्षेत्र मा कभी विशेष रूप से बोली जांदी थै। अब जीवन संघर्ष मा , अपण क्षेत्र से दूर होंदा चंद लोग ही अपणी बोली भाषा बोलदांन, वीं का बारा मा सोचदांन, वीं कु उपयोग करदान। ऊ भी कुछेक जु ज्यादा आधुनिकता का चक्कर ना पोड़ीना। आज सवा करोड़ की गढवाली आबादी मा मात्र पच्चीस लाख लोग ही अपणी गढ़वाली बोली भाषा कु बोलचाल मा उपयोग करदान ऊ भी जरूरत पोड़ना पर।

जबकि गढ़वाली बोली, गढ़वालै समाज व समुदाय की मातृभाषा छ। हमारी गढवाली ही, कभी गढ़वाल राज्य रियासत की राज्य

भाषा भी रै। गढ़वाल रियासत का समाप्त होण अर उत्तर प्रदेश मा शामिल होण पर, मैदानी इलाकों बिटी नौकरी व्यवसाय की दृष्टि से लोगूं कू पलायन गढ़वाल जनै हवै और गढ़वालियों कु व्यापक पलायन पहाड़ छोडिक मैदान की ओर हवै। स्वाभाविक तौर पर गढ़वाली बोली भाषा पर येकु व्यापक असर पोड़ी। चालीस वर्ष पहली उत्तरकाशी, टिहरी या देहरादून की कै भी सड़क, गली मा घुमदा लगदू थौ कि यू जगह ही अपणि पहचान, अपणू पहाड़ छ, अपणू गढवाल छ। पर अब लगदू जनु हम लोग ही कखी भैर बिटिन ऐ होला। सच यू छ कि कखी न कखी दोषी हम ही छौं।

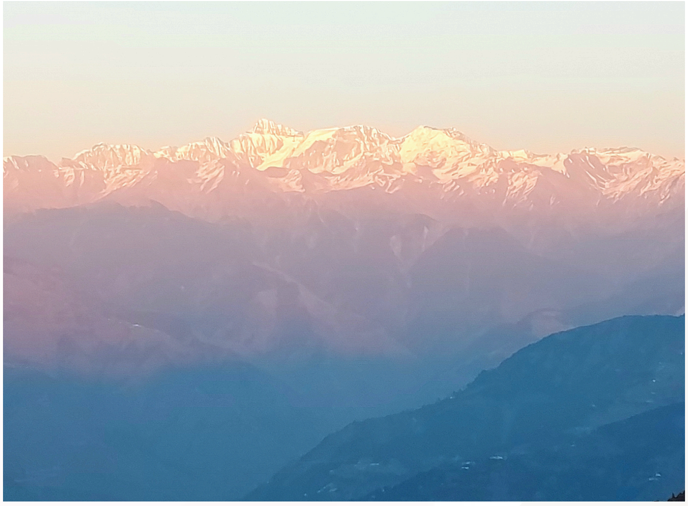

जब धीरे धीरा, भैर वालों की जनसंख्या मा अकल्पनीय वृद्धि होली तब हमारी गढवाली मातृभाषा कु क्या हश्र होलू सोचिकी ही कंपकंपी छै जांद। ये विषय पर देर भले ही हुवैगी पर मंथन करण की आज बहुत जरुरत छ। अपणी बोली, भाषा, माटी व अपणा क्षेत्र का प्रति सजग रैण की बहुत जरूरत छ। तीस वर्ष पहली रूड़की मा प्रवेश करदा ही गढ़वाल कु अहसास रोमांचित कर देन्दु छौ पण अब भैर बिटिन इतना पलायन गढ़वाल मा हवैगी कि वेकू असर हमारी बोली भाषा का साथ साथ, संस्कृति, परंपराओं व रीति रिवाजों पर ही ना पण हमारा सोच विचार पर पड़नू भी स्वाभाविक छ। ये सब का जुम्मेदार और कुई नी हम स्वयं छौं। कुर्सी नौकरी, स्कूटर, मोटरसाइकिल, मकान की उपलब्धि मा हमतैं इतखा याद रखण भी जरूरी छ कि जब हमारू पहाड़, हमारू गढ़वाल सुरक्षित रला तब हमारी बोली भाषा अर हमारी संस्कृति भी सुरक्षित रली। जय बद्री विशाल!

Like Being Alive Twice by Dharini Bhaskar

Mallika Ramachandran

Freelance Editor and Independent legal researcher

Uniquely structured and with many layers, Like Being Alive Twice (Viking, 2024) by Dharini Bhaskar unfolds in an unsettling dystopian scenario. Reminiscent of Cho Nam-Joo's Saha, this world, not unimaginably far removed from the present, is one where citizens find themselves classed, not only according to background and achievements but also identity, not only legal wrongs but also moral indiscretions, not only factors they are responsible for, but also those they can't help. Based on these, they are entitled to live in certain spaces, access certain facilities, and on these, to an extent, is also based their personhood.

In this space, we follow the story of Priyamvada or Poppy as she prefers to be called, on the verge of being proposed to by her boyfriend Tar or Tariq, a relationship that will not only be frowned upon but have its consequences. But up in the mountain town where Tar is about to propose, annoyance over an argument with Tar leads Poppy to take up with another young man, Yuvi, attractive in his own way and with all the right credentials as far as official parameters are concerned. But what if she had decided to give love (and Tar) a chance? From here on, the story develops in sets of parallel chapters, life as it was for Poppy (as also Tar, Yuvi, and their friend and colleague Yana, who had accompanied them to that mountain town) and life as it could have been had Poppy made the other choice.

As each path is explored over the years—from that day in the mountain town to the present—we also meet others connected with Poppy and Tar—her parents (Jatin and Mitali), Tar's (Feroze and Fatima), Tar's cousin Mariam and her little son Zain, among others. Life, relationships, everyday interactions and possibilities all are impacted by the state of things, by the 'points' people earn for what is acceptable and those they lose for what is not.

Almost all the relationships here are fraught, whether between the different couples or parents and children or even with so-called friends and neighbours. But as these are explored across the parallel scenarios, what was and what could have been, one sees that while the politics and space have their impact, there are other layers too: tensions and dynamics run deeper, with personal equations, compulsions and all of life's complexities also playing out.

The story is told in Poppy's voice and from her perspective, and it is through her eyes that we see the other characters too. As a consequence, we get to understand some better than others (sometimes even without Poppy herself realizing it), while others remain 'distant' in that we don't get a sense of their emotions or motivations. Of these, Yana, whom Poppy treats (even if not deliberately) as almost insignificant, remains the farthest from the reader, almost just a pawn in either storyline. Poppy never seems to consider Yana's feelings or emotions when she takes this decision or that; and likewise, also seems to fail to understand where her mother or even Tar are coming from—what it might be like to be in either's shoes. Yet at times, she does realize and at others, one does feel for her.

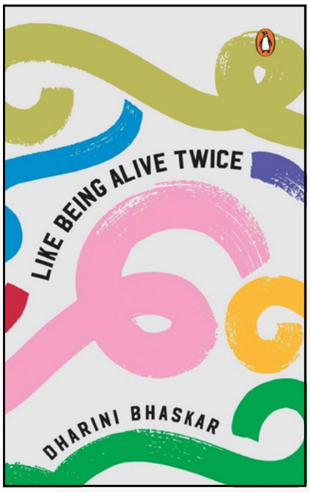

An element I enjoyed in the book was how the idea of destiny or fate runs through it, even if not specifically stated. In both the parallel storylines, the same characters surface, similar pulls and compulsions play out, and while certain (even significant) things vary, outcomes are not all that different.

Woven through the book are, among others, the poetry of Linda Gregg and Fitzgerald's This Side of Paradise, capturing key moments and emotions. There are also on one occasion, 'The eyes': more likely those of Big Brother than Dr TJ Eckleburg! There is much else that makes this book 'bookish' too whether in its references (including to Mrs. Danvers) or Poppy's profession as editor and Tar's as writer. I also loved this quote about having one's books on display, an idea I hadn't considered: You're basically telling strangers all about yourself. Your family. No secrets.

Dharini Bhaskar

Like Being Alive Twice drew me in right from the start and kept me reading. But this is by no means a comfortable read. Rather, it gets one to face up to the realities of life in a space where not every person is seen or treated as equal: in such a space, one need always be on guard; there is no 'safe' and 'unsafe', instead as Tar's mother, Fatima says at one point: how dare we presume that the subjugation of one group does not impinge on the well-being of every other?

A thought-provoking and relevant read!

Kebabs of Delhi

Shelley Williams

Freelance editor and independent legal researcher

On arrival in Delhi, and finding time around the multiple fun events surrounding my cousin's wedding, I asked the local Delhite friends in Delhi – where could I find their celebrated kebabs?

In London, kebabs are usually found in Turkish takeaways; often resemble an elephant's trunk; and are consumed at the end of a heavy night of drinking and forgotten about the next morning (or sometimes remains of it are found at the bottom of the toilet bowl after a regurgitation session in the middle of the night). That's not to say that all kebabs in London are bad. Just most! In many Asian areas, particularly around East London, you can come across a good kebab house where you can taste the best tikkas and kebabs in the country.

But I am told, there is nothing quite like a morsel of a good kebab from Delhi. The wedding turned out to mostly have vegetarian food and it gave me an excuse to step out with a friend and try some of the kebab places recommended by friends in Delhi.

We arrived in Khan Market for the famous Khan Chacha's. This place started out as a street stall around 40 years ago. It soon became a sensation and would see queues of people waiting patiently for a plate of Seekh kebabs. Today there is a two floor fast food style restaurant at the same place. Though my friend ordered chicken kebabs, I wanted to try what the place is famous for – Seekh Kebab. These are hollow sausages made of minced mutton and a large number of spices, shaped around a barbecue skewer and cooked in a hot tandoor. Along with it I ordered a Roomali Roti, a paper thin bread, as large as a big scarf (hence the name which translates as handkerchief roti). Traditionally, you roll the kebab along with some pickled sliced red onion and green chutney into the roti and eat it like a taco. I wanted to try the kebab on its own first and was dismayed by how it looked – bright red (obviously food colouring was used) and dry. It was also cold to the touch and when I tasted it, I was very disappointed. The Roomily roti on the other hand was soft, warm and chewy and with lashings of the famed green chutney, I managed to gobble it all down. My friend's chicken kebab was much better. But I was disappointed.

Later that day, my friend invited me back to her house where her husband had cooked a meal of mutton curry and ordered seekh kebabs from a local tandoor in Jungpura, South East of the city. The curry was sensational, as only a home cooked curry made by a true Delhite can be – soft boneless pieces of mutton slowly stirred for hours in a thick gravy flavoured with whole spices, with lots of minced ginger and garlic. The seekh kebabs were ten times better than at Chacha's so the day was saved by a local unassuming tandoor and a fantastic home cook.

On our last day in Delhi, my cousin (who was also returning to the US the next day and similarly searching for the taste of home before jumping on the plane) and I vowed to find something that will remind us of Delhi. We decided to go to Noida Sector 18 for a round of gol gappe. These are puffed balls made out of flour which are filled with boiled potato, chick peas and a spiced water and thrown into your mouth whole - etiquette forgotten. Pure explosions of sweet, salty, tangy, all exploding into your mouth like a bomb.

But on our way to our favourite gol gappe stall, we passed a restaurant called the Kebab Factory. I looked at my cousin, she cocked an eye brow and without a word, we walked into the place. We ordered, seekh kebab and tandoori chicken. Both were freshly prepared in the tandoor and went down a treat!

It was the day I was to fly home, and my friend insisted we meet for lunch in Defence Colony, and seeing there was a tandoor set up outside the bar called Moet's, we decided to order a Malai Tikka. This is a chicken kebab that's marinated in delicate spices like cardamom and nutmeg and laced with cream, butter and yoghurt. The result is a tender mouth-watering piece of meat which melts in the mouth. The green chilli and garlic notes come at the end of the mouthful like fireworks. The plate of this Malai Tikka arrived on a styrofoam plate accompanied with a mint and coriander chutney and wedges of lemon. This was placed on the bonnet of the car and we devoured the lot within a minute. It was quite possibly the best kebab I've ever tasted!